

ताल-वाद्य शास्त्र

(एक विवेचन)

(रनातकोत्तर कक्षाओ के लिये उपयोगी)

लेखक

मनोहर भालचन्द्रराव मराठे

तबला विभाग

शासकीय माधव संगीत महाविद्यालय

म्बालियर (म प्र)

प्रकाशक

शर्मा पुरतक सदन

पाटनर बाजार लकर म्बालियर (म प्र)

© मनोहर मालचंद्रराव मराठे

प्रकाशक :

शर्मा पुस्तक सदन
पाटनकर बाजार
लक्ष्मण श्वालयर (म प्र)

मूल्य :-

छात्र सस्करण 110 रु०
पुस्तकालय सस्करण 150 रु०

मुद्रक :

दिनेश प्रिन्टस
बीवाजीगज, लक्ष्मण
श्वालयर (म प्र)

मां सरस्वती के चरणों में समर्पित

© मनोहर भालचंद्रराय मराठे

प्रकाशक :

शर्मा पुस्तक सदन
पाटनवर बाजार
लक्ष्मर श्वालयर (म प्र)

मूल्य :-

छात्र सस्करण 110 रु०
पुस्तकालय सस्करण 150 रु०

मुद्रक :

दिनेश प्रिन्टर्स
जीवाजीगज, लक्ष्मर
श्वालयर (म प्र)

मां सरस्वती के चरणों में समर्पित

आशीर्वाद

श्री मनाहर भालचंद्रराव मराठे को मैं बहुत समय से जानता हूँ । उनकी उच्च शिक्षा एवं वर्षों के अध्यापन अनुभव के आधार पर इनके द्वारा लिखी गई 'ताल वाद्य शास्त्र' नामक प्रस्तुत पुस्तक में ताल वाद्य के महत्त्व में उनके इतिहास, विकास, वादन पद्धति, वाद्य वर्णन, ताल पद्धति, छंद रस भाव का संगीत में संबंध आदि का शास्त्रात्मक सुसंगत और प्रामाणिक विवेचन किया गया है ।

मेरी दृष्टि से ताल वाद्य विषय के जिज्ञानु तथा विद्यार्थी सभी के लिये यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी ।

मैं मनाहर भालचंद्रराव मराठे को ताल वाद्य विषय पर इस उत्तम पुस्तक के लेखन के लिये आशीर्वाद देते हुए उनके सफलता की शुभ कामना करता हूँ ।

ग्वालियर—14.1.1991

बालामाहेय पूछवान

बालामाहेय पूछवान 'मगीताचाय'

भूतपूज प्राचाय

शासकीय माधव मगीत महाविद्यालय

ग्वालियर (म.प्र.)

दो शब्द

ताल संगीत का एक कारक तत्व है और तबला हिन्दुस्तानी संगीत में गायन और वादन दोनों में एक प्रमुख अनुपग। दुर्भाग्य से संगीत में चिन्तन और शास्त्र रचना की लम्बी परंपरा इस शताब्दी में अवरुद्ध हो गयी है। शास्त्रीय संगीत में अनेक परिवर्तन हुए हैं पर उनका आलोचनात्मक लेखा-जोखा करने की भाषा हम अब तक विकसित नहीं कर पाए हैं।

इस पुस्तक में तबले को लेकर विशद सामग्री एकत्र और विन्यस्त की गयी है। इस तरह की सामग्री एक साथ पाना निश्चय ही दुर्लभ है। यह तबला के अध्ययन-अध्यापन के अलावा इस तालवाद्य की स्थिति और सम्भावनाओं को समझने में सामान्य रसिकों के लिए भी उपयोगी साबित होगी।

महात्मा और व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को इस पुस्तक में विस्तार से विवक्षित किया गया है। यह समग्रता निश्चय ही मूल्यवान् है।

ग्वालियर
1 जनवरी 1991

बशोब बाजपेयी

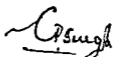
प्रस्तावना

भारतीय मगीत मे अतिप्राचीन काल से ही ताल वाद्य का विशिष्ट स्थान रहा है। बृदिक काल से लेकर बतमान काल तक ताल वाद्य एव उनके उपयोग मे परिवर्तन हुए है।

भारतीय मगीत के प्राचीन काल से बतमान काल तक के ताल वाद्यो के मद्भ म कई ग्रथ प्रकाशित हुए है जिनम कुछ निश्चित प्रकरणो का ही विवेचन क्रिया गया है। अनेक प्रकरणो का सकल एव शास्त्रोक्त विवेचन एव ही पुस्तक मे उपलब्ध नही होता है।

श्री मनाहर भालचंद्राव मराठे द्वारा लिखित 'ताल-वाद्य शास्त्र' एव ऐसी पुस्तक है जिसमे अतिप्राचीन काल से बतमान काल तक के ताल वाद्यो के मद्भ मे-वाद्य वर्णन, वर्गीकरण, मगीत ग्रथवार एव उनके ग्रथ, ताल एव ताल पद्धति का विकास, ताल वाद्यो का वादन, ताल एव तालो का मद्भ रस भाव एव तालो का सबध ताल वाद्यो के धराने, किरुष्ट ताला की उपयोगिता, सांगितिक ध्वनि का बज्ञानिक विरनेपण तथा कुठ निबध आदि का संक्षिप्त कि तु शास्त्रोक्त विवेचन क्रिया गया है।

ताल वाद्य विषय की शास्त्रोक्त आधार पर लिखित यह पुस्तक विद्यार्थी, शिष्य जिज्ञामु सभी के लिये उपयोगी सिद्ध होगी ऐसा मूक्षे पूण विश्वास है।


(राजा छत्रपति सिन्धु)

मदग भास्कर एव मृदगाचाय
विजना, झासी [उ प्र]

विषय-सूची

1 से 264

खुद 'स' शास्त्र	1
1 तबले का उदय, विकास एवं ऐतिहासिक तथ्य	12
2 पुष्कर, मदग, पखावज और ढोल बाघों का विकास, इतिहास	30
3 'नाटयशास्त्र' के आधार पर प्राचीन मार्गी ताल पद्धति	41
4 'सगीत रत्नाकर' पर आधारित देसी ताल पद्धति	48
5 'रत्नाकर' काल से वर्तमान काल तक ताल पद्धति का विकास एवं इतिहास	66
6 वर्तमान तालों का विकास एवं इतिहास	72
7 सुगम संगीत के तालों का विकास एवं इतिहास	82
8 'नाटयशास्त्र' और 'सगीत रत्नाकर' में वर्णित अवनद्ध बाघों का विस्तृत परिचय	99
9 प्राचीन काल से वर्तमान काल तक के घन वाद्य	108
10 प्राचीन तथा मध्यकालीन संगीत के कुछ प्रयुक्तियों तथा उनके ग्रन्थों का सामान्य परिचय	124
11 पखावज तथा तबला वादन शैली एवं वादन विधि का तुलनात्मक विवेचन	132
12 तबला और पखावज के घराने एवं उनका इतिहास	152
13 उत्तर भारतीय और कर्नाटकी संगीत के शास्त्रीय तथा लोक अवनद्ध बाघों का विशय ज्ञान	157
14 प्राचीन, मध्यकालीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों में वर्णित मदग बाघों के पाठाक्षर	163
15 'नाटयशास्त्र' में वर्णित वादन विधि से संबंधित पारिभाषिक शब्द	173
16 प्राचीन व मध्यकालीन शास्त्रों में वर्णित अवनद्ध बाघ वादकों के गुण दोष	178
17, कठिन स्थकारियों का लिखना	184
18 निताछ में दूर मात्रा में उठकर बजनेवाली 32 तिहाइयों का स्वर एवं उनका रचना सिद्धांत	190
19 सांगितिक ध्वनि का वानानिक विश्लेषण	202
20 तबले के घरानों का उत्पत्ति का तक एतद आधार	208
21 अप्रचलित बिलपट और कठिन तालों की उपयोगिता	213
22 छन्द विवरण	215
23 रस भाव और संगीत	218
24 पारम्परिक संगीत में रस	218

25 वाश्चास्य सगीत में प्रयुक्त कुछ धन
तथा अवनद्ध बाद्य

256

खण्ड ब निबन्ध

1 से 72

1	घरानेवार गिणा अथवा गुरु गिण्य परवरा	1
2	भारतवर्ष में प्राचीन एव वनमान गिण्य प्रणाली	7
3	एकल (स्यत त्र) तबला ध्यान	21
4	सगीत म ताल की एतिहासिकता, महत्त्व एव आध्यात्मता	29
5	बाद्य बर्गीकरण एव उसमें सशोधन की आवश्यकता	37
6	सगीत में श्रोताओं का ध्यान	47
7	तबला सगत	53
8	सफल तबला वादक बनने के लिये आवश्यक तत्व	61
9	सयतश्च और सगीत अथवा 'श्रुति माता सय पिता	66

खण्ड स तालवाद्यो के चित्र

1-12

1	भारतीय अवनद्ध बाद्य	2
2	भारतीय धन बाद्य	7
3	वाश्चास्य अवनद्ध तथा धन बाद्य	10

तबले का उद्गम, विकास एवं ऐतिहासिक तथ्य

भारतीय संगीत में वाद्यों को मुख्य रूप से चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है :-

(1) तबुवाद्य (2) अवनद्ध वाद्य (3) पन वाद्य (4) सुपिर वाद्य ।

तबला यह वाद्य अवनद्ध वाद्यों के श्रेणी में आता है । अवनद्ध वाद्य संगीत में लय धारणा के काम में आता है । अतः इन्हें तालवाद्य भी कहा जाता है ताल वाद्य होने के कारण इसका संबंध लय से आता है । अतः तबला वाद्य के उद्गम का अन्वेषण करते समय हमें लय तथा मानव जाति को लय पान के सद्भंग में जानना आवश्यक हो जाता है । संक्षिप्त रूप में लय की परिभाषा हम 'समय के समान गति को लय कहते हैं' इस प्रकार कर सकते हैं । मानव जाति वा लय का बोध होने के बाद ही लय वाद्यों का निर्माण सम्भव हुआ है ।

मानव को लय का ज्ञान कराने में स्वयं प्रकृति की प्रमुख भूमिका रही होगी क्योंकि प्रकृति स्वयं लयबद्ध है । जैसे— नक्षत्रों, तारों का नियमित रूप से भ्रमण, दिन रात का होना आदि ।

प्रकृतिदत्त लय में एक आकषण होना है जिससे मनुष्य लय के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए उत्सुकित हुआ होगा । लय का आकषण मानव हृदय को आल्लाहित (आनन्तित) करने का कारण बना तथा मानव ने निम्न निम्न प्रकार के साधनों से गति को कायम कर लय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की ।

मन को आल्लाहित करने के लिये आनन्द व्यक्त करने के लिये या विशिष्ट प्रकार की सूचनाएँ देने के लिये मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने शरीर के अंगों का प्रयोग कर (जैसे ताली बजाकर या भूमि पर पैर मारकर) लय को कायम करना सीखा । आज भी हम देखते हैं कि दक्षिण संगीत पद्धति में (तालक का) ताली धारण करने का प्रथा है ।

हम जानते हैं कि मनुष्य का यह स्वभाव घम है कि वह प्रत्येक क्षेत्र में जाने बाने का प्रयास करता रहा है । हाथों से ताली बजाकर या जमीन पर पैर मारकर गति तथा लय कायम करने के बाद मनुष्य कालांतर से हाथ से किसी अन्य यन्त्र पर प्रहार करने या वस्तुओं को दो हाथों में लेकर उनके टकराव से लय धारण करके आनन्द लेना लगा तथा निम्न निम्न प्रकार की गति एवं लय धारणा से अलग

अलग संदेश देनेमें सयम रहा । अतः हम निम्नोप यह कह सकते हैं कि स्वर गान के पूर्व ही मनुष्य ने सय गान प्राप्त कर लिया था ।

मनुष्य के ऐतिहासिक विकास के साथ साथ उसने श्रान्त प्राप्त के लिये या दुःख प्रगट करने के लिये स्वर गान प्राप्त किया होगा । गान गान उसने गायन, नृत्य व यान्न कला भी सीख ली होगी । विभिन्न प्रकार के वाद्यों का निर्माण करना भी उसने सीखा होगा । उस काल में मानव बुद्धि का इतना विकास नहीं हुआ था जितना आज हुआ है । अतः उस समय के वाद्य भी विशेषकर ताल वाद्य भी) आधुनिक युग के समान नहीं रहे होंगे । इतिहास पूर्व काल में जो लयवाद्य थे वे साधारणतः नरमुट, पत्थर, हडिहया आदि के बने होते थे । प्राचीन हास स्टेट काल से ऐटिन काल तक जो वाद्य प्राप्त हुए हैं उनमें, कचड़ पत्थर डाले जाने थे तथा उन्हें हिलाकर उनकी आवाज के आधार पर उनका उपयोग सय धारणा के लिये किया जाता था । मोरे बिया में आगे के समान दानों वाला एक सय वाद्य प्राप्त हुआ है जिसको रगडकर बजाने के लिये टूट्टी का एक टुकड़ा भी है जिससे रगडकर उसे बजाया जाता था । गानवरों के जखड़ों का उपयोग भी लय वाद्यों के रूप में किया जाता था । धीरे धीरे मनुष्य ने मिट्टी के झुनझने बनाया भी सीखा । मिट्टी के बतन बनाकर उसमें कचड़ पत्थर डालकर उससे हिलाने से उत्पन्न होने वाले ध्वनी से सय की धारणा करना सीखा ।

मनुष्य के बुद्धि के विकास के साथ साथ उसने यह जाना कि इस प्रकार वाद्यों से उत्पन्न होने वाली ध्वनि क्षणभंगुर होती है । उसमें स्थिरता नहीं होती अतः उसने इस प्रकार की ध्वनि जो कुछ देर तक कायम रह सके तथा ऊँची और बड़ी भी हो उत्पन्न करने की तरफ अपना ध्यान लगाया और इस लयन के साथ साथ उसने चमड़े को साफ करके, उसे तानकर उसपर प्रहार कर इच्छित ध्वनि को प्राप्त किया । जमीन खोदकर बने गड्ढे पर साफ किये चमड़े का तानकर बिठाया गया तथा उसे बजाने पर ऊँची बड़ी तथा स्थिर ध्वनी को प्राप्त किया । उसने यह जाना कि इस प्रकार की ध्वनि अधिक आनन्द प्राप्त करा सकती है, अधिक दूर तक सुनी जा सकती है तथा उससे लय भी प्राप्त की जा सकती है । धीरे धीरे उसने मिट्टी के कटोरे समान बतनों पर या लकड़ी के खोखले भागों पर चमड़ा मढ़कर (चमड़ापुत्त) ताल वाद्यों का निर्माण करना सीखा । शायद मिट्टी के बने अग पर चमड़ा मटे वाद्य का नामाकरण मदग के रूप में किया गया होगा ।

भारतीय सगीत के आदि ग्रन्थ 'नाटय शास्त्र' में तथा उसी प्रकार धारमदेव के 'सगीत रत्नाकर' ग्रन्थ में मन्ग का उल्लेख मिलता है ।

सबला वाद्य की उत्पत्ति

वर्तमान काल में उत्तर भारतीय सगीत में प्रयुक्त होने वाले वाद्यों में सबले का स्थान शीघ्र स्थान पर है तथापि सबला वाद्य की उत्पत्ति कब हुई, किसने की तथा कब हुई इस संबन्ध में विश्वसनीय जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है । जो जान

कारी है उस सदम में सभी सगीत शास्त्री एक मत नहीं है किंतु अय जानकारी न होने से उसे ही मायता प्राप्त हो चुकी है। वैसे यह कहना कि तबला वाद्य का जन्म भारत वष में ही हुआ है कठिन है कारण यह कि इस प्रकार के कई वाद्यो का एव यन्त्रो का वणन अय देशों के प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध है। प्राचीन पश्चिम, सुमेरियन तथा बेबिलोनियन वाडमय में ऐसे कई सांगितिक ताल वाद्यो का वणन प्राप्त हुआ है जिससे यह भ्रम होता है कि क्या तबला वाद्य का निर्माण अय देशों में तो नहीं हुआ। जिन वाद्यों का उल्लेख उपरोक्त वाडमय में प्राप्त हुआ है उनकी सक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है —

- (1) तबल बलादि-खोखले लकड़ी पर चमड़ा मड़ा। अर्द्ध गोलाकार नववारज्ञान वाद्य के साथ जोड़ी बनाकर बजाया जाता था। इन दोनों भागों को लकड़ी से बजाया जाता था तथा इसे गधे या घोडे की पीठ पर दोनों भागों में लटकाकर बजाते थे।
- (2) तबल टर्फी-यह वाद्य आज के तबला जोड़ी के समान होता था। इसका एक भाग लकड़ी को एक तरफ से खोखला करके लव रूप में तथा दूसरा डग के समान अथ गोलाकार लकड़ी को खोखला करके बनता था। दोनों पर चमड़ी मड़ी रहती थी। इस वाद्य का आकार भी तबल के अनुसार ही होता था।
- (3) तबल जग-यह दो अथ गोलाकार (1 छोटा, 1 बड़ा) नगाडे समान होता था जिस पर चमड़ा मड़ा रहता था। इसे डटियों से बजाकर इसका उपयोग युद्ध के समय किया जाता था।
- (4) तबला गामी अथ दाये के अनुसार ऊची ध्वनी तबल मिर्गी अथ बाये के समान छज की ध्वनी। तबल ग भी पर बारीक चमड़ा मड़ा होकर उसे बारीक डट्टी से तथा तबल मिर्गीपर मोटा चमड़ा मड़ा होकर उसे मोटी डट्टी से बजाया जाता था।
- (5) तबल अल गाविग यह वाद्य तबल बलादि, तबल टर्फी के अनुसार ही किंतु उससे काफी बड़े आकार का होता था जिन घोडे की पीठ पर रखकर बजाते थे।

उपरोक्त सभी वाद्यों में लकड़ी तथा धातु का प्रयोग होता था। इनके मुख पर चमड़ा मंगा रहता था। तबला अथ में जुड़े इन वाद्यों पर कहीं भी दाही लगाये जाने का उल्लेख नहीं है। 13 वीं सदी में सुल्तान धिया सुदीन बल्सन के दरबारी कलावंत कबाली के साथ संगत करते समय तबला डग के समान जोड़ी युक्त वाद्य का उपयोग करने से किंतु उन वाद्यों पर दाही लगाये जाने का उल्लेख नहीं है। इस वाद्य के प्रयोग का उल्लेख इतिहासकार करम इमाम न किया है।

तबला यह वाद्य दो भागों का मिलकर बना वाद्य है। तबला (गामा) और डगा (बाया) में उसका दो भाग है। साधारणत तबला (गामा) दाये हाथ से

तथा बाया बाये हाथ से बजाया जाता है। इसका सपूर्ण वजन यहाँ करना अनाश्यक होने से सक्षिप्त जानकारो दी जा रही है। सकड़ी के छोड को एर तरफ से छोडला करके ऊपरी भाग चौडाई में कम तथा निचला भाग चौडाई में अधिष्ठ होता है। ऊचाई लगभग 10' व 12" होती है। छोडले भाग पर पुडो (चमडो की) मनी जातो है जिसे चमडे के पानी से या सूत की डोरो से बसा जातो है। तबला जोडो स्वर के अनुसार अलग अलग आकार की होती है। तबला जोडो के दाये वा उपयोग निश्चिन स्वर के तार स्वर के लिये तथा बाय वा उपयोग छज स्वर (BASE) के लिये किया जाता है।

तबला शत्र की व्युत्पत्ती तथा बाय की उत्पत्ति के सबध मे अनेक धारणायें बनी है। पखावज अथवा मृग के दो भाग करके उमे छडा करके बजाने पर यह (बाय) बोला इस धारणा के अनुसार जय तोडा सब (भी) बोला अपघ्न होकर तबला शत्र की व्युत्पत्ती हुई ऐसी धारणा है किंतु यह धारणा तक सगत नहीं लगती है। पछावज अथवा मृग की वादन शली और तबल की वादन शली मे जमीन आसमान का अंतर है। तबला यह वाद्य अल्लाउद्दीन खिलजी के शासन काल से अस्तित्व मे है इसमे कोई मतभेद नहीं है किंतु उसके पूव यह कहा था इस वाद्य को तबला यह नाम कैसा प्राप्त हुआ इस बारे मे मतभेद है। आठवीं सदी से ही इस्लाम सभृति प्रगति पर थी। संगीत कला का प्रसार भी इस समय हुआ। भारत वष मे सिंधु घाटी तक इस सभृति का प्रभाव था। इस काल मे फारसी भाषा काफी समृद्ध हुई। अरब तुक पर्शियन सीरियन आदि लोगो मे संगीतकला का आदान प्रदान हुआ। इसी आदान प्रदान की थ खला संगीत के अतगत तबला वाद्य का भारतवष में प्रवेश हुआ होगा। सीरिया मे अति प्राचीन काल मे मेसोपोटिमियन सभृति का विकास हुआ था। इस समय के सीरियन भाषा मे तबला गद का स्पष्ट उल्लेख है। हम एसा कह सकते है कि मुगलों के भारत मे अपने पर जमाने के साथ साथ तबला यह वाद्य भारत मे आया होगा किंतु भारतीय संगीत मे उसका प्रचार व प्रसार शीघ्र न हो सका होगा। यह भी समभव है कि उस तबला वाद्य में आवश्यक फेरबदल करके वर्तमान तबले का स्वरूप भारतीय संगीत में आया हो। उडू भाषा में तथा फारसी भाषा मे तबले का अर्थ एस वाद्य से है जिसका मुख ऊपर की ओर हो तथा उसका ऊपरी भाग छपाट हो। शायद इसी आधार पर वाद्य का नामकरण तबला किया गया हो।

13 वीं और 14 वीं शताब्दी के काल को उत्तर भारतीय संगीत के आधुनिक वाद्यो के विकास का स्वर्ण युग कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी इस काल के सुल्तानों मे घियासुद्दीन बल्बन अलालुद्दीन, अल्ताउद्दीन खिलजी घियासुद्दीन तुगलक संगीत के प्रेमी थे। अल्लाउद्दीन खिलजी के शासन काल मे उनके दरबार में कई कलावत थे। एसा कहते है कि अल्लाउद्दीन खिलजी ने दक्षिण के देवगिरी राज्य को जीतकर वहां के प्रसिद्ध गायक वादकों को अपने साथ दिल्ली लाया। उस समय उत्तर भारत मे मृदंग (पछावज) तथा दक्षिण भारत में मृदंगम

का संगीत के ताल बाधों में क्षीय स्थान था। गुस्से में मदग (पखावज) को तोट डाला गया होगा तथा तालवादकों को तबला बाध बजाने को मजबूर किया गया होगा। पूव में ही कहा जा चुका है कि मदग (पखावज) के दो भाग करके तबले के उत्पत्ति की कल्पना करना ही सम्भव नहीं है।

13 वीं सदी में घियासुद्दीन बल्बन के दरबारी कलावंत जिस वाद्य का उपयोग करते थे उसी वाद्य को 14 वीं सदी में अल्ताउद्दीन खिलजी के दरबारी कलावंती ने सुधारणा करके आज के तबले के स्वरूप को जन्म दिया ही यह सम्भव है। इसी काल में (13 वीं 14 वीं सदी) नबठे के आकार, प्रकार रचना आदि में सुधार हुआ। इस समय तक स्थायी युक्त ताल वाद्य मदग (पखावज) ही भारत में प्रचलित था। तबले पर स्थायी लगाना उसे भिन्न भिन्न स्वरों के अनुसार बनाना, नाम स्वर स्थापित करना आदि के तरफ मुगल बादशाहों का तथा उनके दरबारी कलाकारों का ध्यान गया होगा। अल्ताउद्दीन खिलजी के शासन काल (इ. 1296 से 1316) में उनके दरबार में अमीर खुमरो नाम के उच्च कोटि के कलाकार थे। इन्होंने पश्चिम, ईरान, अफगान में प्रचलित संगीत को भारतीय संगीत से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने भारतीय संगीत में कई नवीन बाधों का समावेश किया तथा कुछ बाधों में सुधारणा की। मुगल शासकों ने अपने लेखन में अमीर खुमरो को तबल का अविष्कारक बताया है। यद्यपि तबला इस शब्द का उल्लेख पूव में भी मिलता है तथा वर्तमान में जो वाद्य प्रचार में है उसकी यह रूप देने का श्रेय अमीर खुमरो को ही जाता है। इन्होंने निम्न प्रमाणों के आधार पर हम स्पष्ट कर सकते हैं —

- 1- इ. स. 1266 के पूव के किसी भी भारतीय ग्रन्थ में तबला इस वाद्य का उल्लेख नहीं है।
- 2 वर्तमान तबल के स्वरूप का उल्लेख 13 सदी के अंत से ही मिलता है।
- 3- अमीर खुमरो ने भारतीय तालों के आधार पर 15 ठेकों का निर्माण किया जिनमें से कुछ ताल मुख्य रूप से तबला वाद्य के अनुद्यन ही थे। जिन 15 तालों के ठेके बनाये व ताल इस प्रकार है।—

पन्नो झोमहार कम्बाली, वासूठे फाल्ता, जत, जलद त्रिताल, सवारी, आठौंवारताल धूमरा,

अमीर खुमरो ने तबले की वनावट में जो सुधार किया उसके परिणाम स्वरूप तबले की वर्तमान में यह स्थान या दर्जा प्राप्त हो सका है। तबले की ऊँचे स्वर में लाने के लिये छूटियों के स्थान पर तबडों के गट्टे (जो सख्या में आठ होते हैं) बढीयों के नीचे कसिये बाने लग। दाँयों के मुँह पर मनी जाने वाली पुडी में बकरी के चमले चमड़े का उपयोग किया जाने लगा। पुडी तीन चमडियों से बाने लगी। ऊपरी चमडों की सीध में गोलाकार काटकर मुख पर लगाना। इस चौड़ी किनारा रची जाने लगी। गट्टों को ठोकेने से लिए हतोटा का उपयोग किया जाने

नादे ८ गुरी के बीचोबीच मगाव से घनी स्तम्भी का मगाव प्रारंभ हुआ। उभा-
दवार बाये की मुख्य दर मगो घानी गुरी की परतो वाली होकर उमर्र भा वाली
रखी जा लगी। बाये का गुरी पर आगे की गुरी मगाई जागी थी। बाये की
गुरी का समटा दाव के गुरी ८ पमके की मगाव मोग रखा जाये मगा। मग
की डारी के रगाव पर पमट की लगी लगी पल्लिया का उपयोग दिया जाने
मगा।

यद्यपि भात्र यह प्रचलित है कि सर्वप्रथम लखे का निर्माण अमीर खसरो
है तथापि कुछ मगे समय सामने आते है जो हवे इत धारणा न बिपनित करते है।
द म 1210 से 1246 का काम मगत के मगाव पंढिन साग्गदेव का काम है। मगी
समय में मगी अयो मगीन प्रय ' मगीन रगाव' की रचना की। इत समय म
मगी उत समय क मावक वादक और मगर कगावारी का तथा मक वाप प्रथम
आदि का उल्लेख किया है। प्रय में मगी प्राकृत भाषा के मगी का भी उपयोग
किया है। इत प्राकृत भाषा के जिन दो मगी का उल्लेख हुआ है व ताव मी के
मगी में दिये गये है।

1—उधार-हाव की मगुनियों अथवा हाव की हुयेली से निराला मगा भाग
दार गद

2—घोडवार—घनरक, या हातरसे दावकर निराला मगा गुमावधार ना

उपरोक्त उधार व घोडवार मगी के प्रतिमर्षों के रूप में बतमान क कुछ
सबलावादक अनुक्रम में गात्र व दाव मगी का प्रयोग करते है। हम देखने है कि
प्राचीन अवनट मगी मगे मगी, गटह, मुरक आदि पर एक साथ गात्र व दाव का
प्रयोग मभव नहीं था। अत उपरोक्त सदन व सबले के स्वरुप का ही कोई अवनट
वाच उत जाल म होन की सम्भावना ही सक्ती है।

यद्यपि यह माना जाता रहा है कि सबले का अविष्कार अलाउद्दीन खिलजी
के शासन काल में (13वीं सदी का अत तथा 14वीं सदी का प्रारंभ अमीरखसरो
ने किया तथापि उत काल में कही सबलावाच का, उतसे वादन का तथा वादको
का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। मोहम्मद गहा रगीले के काल में (1719-1748) रहमान
दां परदावजी के पुत्र अमीर खुसरो ने प्रचलित कपाल गायन संसारव से इयाल गायन
की शिक्षा ग्रहण की थी। इत समय तक कपाल गायन के साथ सबला के संगत
का उल्लेख नहीं है। इगी समय में ही अमीर खुसरो (द्वितीय) द्वारा कपाल गायन
के साथ सबले की समत किये जाने का उल्लेख है। यद्यपि 13वीं सदी में सबले के
समान किसी वाच का उपयोग अलाउद्दीन खिलजी के काल में कपाली के साथ
संगत करने में होता था एसा उल्लेख है।

सबले की उत्पत्ती के सदन में यह धारणा चलत हो सक्ती है कि मगी
अथवा दखावज के दो भाग करके सबले का निर्माण किया गया किन्तु सबले की

बनावट तथा विराज मन्त्र (पुष्पर) का आधार होन से हम इनकार नहीं कर सकते। 12वीं सदी में शारंगदेव के समय तक पुष्पर वाद्यों के (आन्ध्र और उध्वक) भागों का वादन लुप्त प्राय हो चुका था। शायद इन्हीं दो भागों के आधार पर तबले की उत्पत्ती हुई हो।

तबले का जन्म कभी भी हुआ हो तथा किसी न भी किया हो उसका पूरा विकसित रूप 19वीं सदी तक प्राप्त हो चुका था। तबले की उत्पत्ति के सदाभ में अनेकानेक प्रतियाँ हैं तथापि तबले को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में अनेक कला-कर्मियों का हाथ रहा है। 19वीं सदी के पूर्वार्ध तक तबल की वर्तमान स्वरूप में लान का मुख्य श्रेय सिद्धार खा को जाता है। सर्वप्रथम सिद्धार खा ने तबल के बाये पर भी टाय के अनुसार स्याही लगाई जो मध्य में होकर थोड़ी हटकर लगाई जाने लगी। इस प्रकार बाये पर स्याही लगने से तबल वाद्य में वे सारे घुमकार बोल जो टोल पर बजते थे आसानी से बजाये जाने लग गये। ऐसा बहते हैं कि सिद्धार खा के समय के पूर्व तक तबले पर मृदंग या पखावज के समान गुरु बोल ही बजते थे। सिद्धार खा ने ही सर्वप्रथम तबले पर बंद बोलों के वादन का प्रारम्भ किया तथा तबल की विभिन्न प्रकार की वादन शैली का प्रादुर्भाव हुआ। बंद बोलों का विकास पखावज के (मृदंग के) विकास से भिन्न था। इस प्रकार के बंद बोलों के वादन शैली को सिद्धार खा कहना जाने लगा क्योंकि सिद्धार खा दिल्ली दरबार में दरबारी वादक थे। अब तबले पर मृदंग तथा पखावज शैली ही प्रकार के बोलों एवं बंद बोलों का वादन चलाने हो गया था। तबल के बोलों का साहित्य मृदंग नगाडा, ढोलक एवं नृत्य से लिया गया।

19वीं सदी के पूर्वार्ध तक विदेशियों के द्वारा लिखे गये लेखों में जस— हिन्दू म्यूजिक (Hindu Music) म्यूजिक ऑफ हिन्दुस्तान (Music of Hindustan) से यह विदित होता है कि इस काल तक भारतीय शास्त्रीय संगीत में तबला वादक को यह स्थान प्राप्त नहीं हुआ था जो मृदंग या पखावज वादक की प्राप्त था। तबले का वादन अधिकतर पगार नर्तकियों के तबले के साथ संगत करने में अध्याय था गार युक्त गायन के साथ संगत में किया जाता था। यद्यपि सरल और शीघ्र युक्त होने में जनसाधारण के मञ्चन, बीतन आदि में इसका प्रयोग होने लगा था। घरा-घराने संगीतज्ञों ने इसे नहीं अपनाया था, इसका कारण यह हो सकता था कि परंपरागत तबल वादन मृदंग (परवाज) के महत्त्व को छोड़ने के लिये घरानेदार संगीतज्ञ तैयार नहीं हुए। इस कारण तबले के वादन के विकास की गति धीमी रही।

तबले का कला दृष्टि से हुआ विकास

बंगालीयों के काल से ही भारतवर्ष में तालगान्ध का विस्तृत ज्ञान प्राप्त हो चुका था। अनेक प्रकार के लयमय 360 घुम और विदम तालों का उद्देश्य समृद्धि में हुआ है। अतः यह अत्यन्त होने के कारण गणित वादक के आधार

पर अलग अलग सस्थाओं के अगणित ताल बन सकते हैं। एसी कल्पना है कि अमृत मधन व वाद देव और असुर आनन्द से भिन्न भिन्न गति में नृत्य करने लगे। देवों द्वारा जिस गति में नतन हुआ उ हें समताल तथा असुरों द्वारा जिस गति में नतन हुआ उस विषम तालों की सजा दी गई।

भारतवर्ष में इनने प्राचीन काल से उपलब्ध ताल शास्त्र का उपयोग तबला वादन के शास्त्र के लिय किया गया। तबले के दाये तथा बाये पर अलग अलग प्रकार से अलग अलग स्थानों पर उत्पन्न नाद ध्वनि की विशिष्ट अक्षरी तथा बोलों से पहचाना जाने लगा तथा इस प्रकार तबल वादन की भाषा निर्माण हुई। बाये तथा बाये के समुक्त तथा एकल अक्षरी से प्रबलित तालों के ठेकों की रचना की गई। तालों के ठेके उसके स्वरूपानुसार अलग अलग लय में निश्चित किये गये। प्राचीन यद्यो म वही भी तालों के निश्चित ठेकों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्राचीन काल में गायन वादन, नतन के वजन के अनुसार वादक को के स्वयं बाधना पड़ते थे। अनुमान है कि ध्रुवपद गायत्री के प्रचार प्रसार के साथ साथ 1५ वीं सती में तालों के ठेकों का ज म हुआ होगा। इन ठेकों की रचना छन्दों के आधार पर की गई होगी। इन तालों के ठेकों को बार बार समत म प्रयुक्त किये जाने से वे सभी ठेके जो एक प्रार विकसित हये परंपरा से अगला पीढ़ी से लिये प्रमाण बन गये। यद्यपि तबल की भाषा का आधार म दग की भाषा ही रहा तथापि तबले के दाये बाय से निकलने वाले ध्रुमकदार स्पष्ट तथा मधु नाद ध्वनि के कारण तबले की भाषा कालांतर से म दग की अपेक्षा अधिक प्रभावी हुई। तबले की भाषा भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न रही तथापि बोलों का विकास में बहुत कुछ साम्यता बनी रही। तबले पर बजने वाले एक ही प्रकार के बोलों का अलग अलग प्रांतों में अलग अलग प्रकार से उच्चारण किया जाने लगा।

जैसे — धिनतक — महाराष्ट्र, बनारस दिल्ली।

धनतक — पूरव, पटनावादा अजराहा।

धगतक — पंजाब, लाहौर कराची।

तबले के बोल (वण) मध्या का अलग अलग विद्वानों ने अलग अलग उल्लेख किया है। उस यत्नि हम मूर्ख दृष्टि से देखते हैं तो मुख्य सात वण ही बनते हैं। व है। क ध अघवा ग त द न ट र।

तबले की भाषा में तालध्व, कण्ठ्य और दस्य व्यंजनों का प्रयोग दिखाई देता है। ओष्ठ्य अवस्था उच्चारण स्वर बज माने गये हैं। तबले के वणों को निकालने में अलग अलग प्रवृत्त हुए। दाये बायों के मूळ और दाद के अनुसार अलग विद्वानों ने अपनी अपनी विगपता के अनुसार बोलों के विकास को प्रवृत्त किया तथा सभी आधार पर अलग अलग वाज और धरानों का ज म हुआ। तबले के मध्याक तथा बोल एवं ठेकों के सुधारक माने जाने जाने वाले सिद्धार खाँ के व वली को दिल्ली वाज कहा जाने लगा। इस वाज के सिद्धार खाँ के गिन्यों द्वारा दिल्ली पगने का प्रादुर्भाव हुआ। सिद्धार खाँ के वण परंपरा लोगों द्वारा ल

जिस कारण दायें हाथ की तयारी के साथ बायें हाथ की हथेली का बायें मुख पर उतनी गीघ्र गति से चलना कठिन हो जाता है और इस कारण मद्ग (पखावज) बजाना तबले की शपशा अधिक कठिन होता है। तबले के दाय तथा बाय दोनों मुखों पर दायें बायें दोनों हाथों की अंगुलियों का गीघ्रता से चलना तबले के अधिक उपयोगी होने का कारण बना है।

3 मद्ग (पखावज) के किसी भी मुख पर धुमक निकालने की सुविधा नहीं होती है। दायें मुख पर स्याही होती है तथा उस पर हथेली तथा अंगुलियों का उपयोग किया जाता है। बायें मुख पर स्याही के स्थान पर नीला कट्टा आटा लगाया जाता है जिस कारण बायें मुख पर हथेली के निचले भाग में धुमक निकालना संभव नहीं होता है। इसके विपरीत तबले के दायें मुख पर हथेली तथा अंगुलियों दोनों का प्रयोग उसी प्रकार बायें पर भी स्याही लगी होने के कारण अंगुलियों तथा हथेली दोनों का प्रयोग होता है। तबले के बायें मुख पर दोनों के समान धुमक भी निकाली जा सकती है। इस कारण तबले के वादन में सुन्दरता बढ़ जाती है।

4 तबले के वादन में आसदार खुले तथा बिना आसदार मद (सुन्दर) दोनों प्रकार के बोलोका वादन संभव होने से उसके वादन में मिठास उत्पन्न होती है।

5 तबला वाद्य उच्चमुखी होने के कारण तथा ऊर्चा सीमित होने के कारण इस पर लयकारी में तथा तयारी के साथ वादन करने में सरलता होती है।

6 तबले पर खुले तथा बंद श्रोतों प्रकार के बोलोका का विकास सरल एवं संभव होने के कारण यह ध्रुवधारात्मक भारतीय युक्त गायन, स्थाल गायन तथा सुगम संगीत के साथ संगत करने में सक्षम होता है।

7 वर्तमान में ध्रुवधारा गायन जैसे गभीर गायन की अपेक्षा स्थाल गायन एवं सुगम संगीत का अधिक प्रसार होने से पखावज की अपेक्षा तबला वादन अधिक प्रचार में आया है।

8 यह वाद्य (तबला) एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सुविधाजनक होता है उसी प्रकार समय आने पर उस छोड़े होकर कमर में बांधकर बजाना भी संभव है। इस कारण इसका प्रयोग मद्ग (पखावज) की अपेक्षा बढ़ गया है।

9 पखावज (मद्ग) की अपेक्षा तबला वादन का साहित्य वर्तमान में इतना विकसित हुआ है कि इसका वादन सीखने के लिए अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है। इसका अलावा तबला सीखने के लिए तबला कलाकार भी मद्ग कलाकारों की अपेक्षा आसानी से मिल जाते हैं। तबले के एकाकी वादन के प्रचार एवं प्रसार के कारण भी तबले का महत्व दिनोदिन बढ़ता जा रहा है।

10 तबले के शायें अर्धों का भिन्न भिन्न आकार होता जिससे भिन्न स्वरों

के दाएँ अलग अलग स्वरों में उपलब्ध होने से भी तबना सप्त के लिए अधिक उपयुक्त है ।

11 रागों की स्वर विशेषताओं के अनुसार तबला यह बाघ निश्चित स्वर मध्यम पंचम, निषाद और टीप किसी भी स्वर में प्राप्त हो सकता है ।

12 धात्र तो यह भी समझ हो गया है कि 12 स्वरों में से निश्चित 7 स्वरों के दाएँ लेकर तबला तरंग कावादन होने लगा है । भविष्य में यह बाघ जल तरंग के अनुसार अलग अलग रागों में तबला तरंग के रूप में बजे तो धारचय की बात मही होगी ।

पुष्कर, मृदंग, पखावज और ढोल वाद्यों का विकास, इतिहास

ढोल जन साधारण में बड़ आकार वाला इस अयम आना जाता है। अर्धेजी में हम इसे ड्रम कहते हैं। ढोल इस शब्द का अर्थ प्राणियों के समझे हो अवरण रूप में लगाकर बनाया गया वाद्य। इस प्रकार हम देखते हैं कि अतिप्राचीन काल से वर्तमान काल तक कई वाद्य ऐसे बन हैं जिनके मुख पर चमड़ा का आवरण होता है। किंतु हम प्रत्येक वाद्य को ढोल वाद्य नहीं कह सकते। ढोल वाद्य बन उन्हीं वाद्यों को कहेंगे जिनका रूप बहुत कुछ प्राचीन ढोल समान बानी बड़े आकार का हो तथा जिस पर हाथों से या डंडियों से खुसा प्रहार कर केवल लय स्थापना की जाती हो।

ऐसा माना जाता है कि स्वर ज्ञान के पूर्व ही मानव ने लय ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सगीन के इतिहास का अध्ययन करने पर, जब कि स्वर युक्त गायन का कोई अस्तित्व ही नहीं था, टुडुडुओं, नरमुडुओं, माटी के गुनगुन आदि के ताल वाद्यों का अस्तित्व में होना यह सिद्ध करता है कि स्वर ज्ञान की अपेक्षा लय का ज्ञान मानव को पहले ही जुका था। मानव के बौद्धिक विकास के साथ साथ उसने चमड़े को साफ करके उसे तानकर उस पर हाथ या लकड़ी से प्रहार कर उसकी ध्वनी से लय धारण करना सीखा। धीरे धीरे इनका उपयोग आनन्द प्राप्ति के लिए सभ्यता देने के लिये आदि कार्यों में किया जाने लगा। जो चमड़ा उपयोग में लाया जाता था वह हिरण बल बकरी, भड़ या अन्य किसी जानवर का होता था। ढोल वाद्यों के अनेक प्रकार बने जिनके आधार पर इन्हीं निम्न विभागों में बाटा जा सकता है —

- 1 भूमि को आधार मानकर बनाये गये।
- 2 लकड़ी को खाखला कर, आधार मानकर बनाये गये।
- 3 माटी के बतन को आधार मानकर बनाये गये।
- 4 धातु के बतन को आधार मानकर बनाये गये।

1 भूमि को आधार मानकर बनाये गये (GROUND DRUMS) —

भूमि में गड्ढा खोदकर उसके ऊपर साफ किये चमड़े को तानकर बिठाते थे। चमड़े को खटियों द्वारा भूमि के गड पर कस दिया जाता था तथा इसे तम्बे लम्बे लकड़ियों से पीटकर बजाया जाता था। प्राचीन काल के इस प्रकार के ढोल में अधिकांशतर बेल का चमड़ा लगाया जाता था। भारत वर्ष में इतिहास के दृष्टि से ढोल

वाद्यो म भूमि दु दुभी यह वाद्य सबसे प्राचीन वाद्य कहा जाता है। वेद पुराणों में भूमि दु दुभी का स्पष्ट उल्लेख है। वैदिक काल में इसका वादन यज्ञ के मधोवारण के साथ या यज्ञ की सूचना देने के काय में किया जाता था। इस वाद्य के वादन के बिना कोई भी धार्मिक विधी संपन्न नहीं हानी थी। इसके वादन से सभी लोग धार्मिक स्थल पर एकत्र हो जाया करते थे। भारतेतर देशों में प्रचलित स्लिट ड्रमस इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

2 लकड़ी को खोलला कर, आधार मानकर बनाये गये - लकड़ी के बड़े थोड़े की बीच में से खोलला करके उसके ऊपर चम आच्छादन करके तथा उसे बस कर इस प्रकार के ढोल बनाये जाते थे। इनके मुख्यत दो रूप होने का उल्लेख प्राचीन ग्रंथा एव शिलालेखों में मिलता है। इसका एक रूप अम्बवत तथा दूसरा रूप घड़े के निचले भाग के समान होता था। भारतवर्ष में इस प्रकार का वाद्य दु दुभी के रूप में प्रसिद्ध था। प्रागतिहासिक काल में दु दुभी वाद्य का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में तो दु दुभी का विस्तार पूर्वक वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में दु दुभी के बनावट के बारे में लिखा है कि इस वाद्य का निर्माण काष्ठ से उसे खोलला कर होना था। लकड़ी विंगण प्रकार की होती थी। उसके मुख को परिष्कृत चमड़े से आच्छादित करके चारों ओर से चमड़े की वाणियों से बांध कर बस दिया जाता था। वादियों को तरप रखने के निरुत्पन्न भी किया जाता था। इसकी आवाज बड़ी होती थी तथा दूर तक सुनाई दी जा सकती थी। दु दुभी पर बल के बसड़े का आच्छादन किया जाता था। इसका प्रयोग भी यज्ञ काय में लोगों को एकत्रित करने के लिए किया जाता था। इस वाद्य का उल्लेख ऋग्वेद एव अन्य धार्मिक साहित्य में मिलता है। भाष्य महाकाव्य में भी इसका उल्लेख है।

3 माटी के बतन को आधार मानकर बनाये गये - ऐसे ढोल बाधों का वर्णन विस्तृत वर्णन या उल्लेख नहीं मिलता है तथापि कुछ शिलालेखों से इस प्रकार के वाद्य होने का सबेत मिलता है। माटी के बड़े धाकार क मटके के निचले भाग के समान बतन पर चमड़े का आच्छादन कर उसे तानकर इस प्रकार के ढोल बनाये जाते थे। शायद यह माटी से बने होने के कारण तथा मजबूती में कच्चे रहने के कारण इसका उपयोग अधिक नहीं हो पाया होगा। आज के तबला जोही के माटी के बने बाध के रूप के समान ही किंतु माटी के दोनों का बड़ा रूप रहा होगा। भारतेतर देशों में इस प्रकार के 'बने डमरु' का उल्लेख मिलता है। पाणिनी ने गुरु वाद्य का उल्लेख ईसा पूर्व 7वीं सती में किया है।

4 धातु के धर्मियों को आधार मानकर बनाये गये ढोल - मुख्य के धार्मिक विधास के साथ साथ उसने ढोल तथा अन्य वाद्य धातु के बनाना सीखा। धातु के बड़े बड़े बतन बनाकर उस पर चमड़े का आच्छादन कर, रस्सी से उसे बस दिया जाता था तथा उसे सड़का का डंडे से मारकर बजाया जाता था। इस प्रकार के वाद्यों में तारा, नगाडा आदि प्रकार के वाद्य आते हैं। प्राचीन मंदिरों में

पूजा आरम्भी के समय इस प्रकार के वाद्यों का वादन होता था। इसका उल्लेख मिलता है। आज भी कई बड़े बड़े मंदिरों, मठों में इनका वादन होता है। परधाय देवों में इनका अधिक प्रयोग होता है।

ढोल वाद्यों का विकास एवं इतिहास — अति प्राचीन काल में ढोल वाद्य काफी बड़े आकार के रहे होंगे। निम्नलिखित वाद्यों में उदाहरण के तौर पर ढोल वाद्यों की ऊँचाई लगभग 10 फुट की थी। धीरे धीरे इसके आकार में परिवर्तन होने लगा तथा उनकी ऊँचाई तथा चौड़ाई कम होने लगी। आज बड़ बड़ मठों और मंदिरों में बड़ तथा मध्यम आकार के नगाड़े हमें दिखाई देने हैं। छोटे आकार के नगाड़ों की ऊँचाई 3 से 5 फुट तक होती है। धीरे धीरे इनका आकार सुविधानुसार छोटा होता चला गया तथा इस नाम तथा वादन शैली में अंतर आया गया। वर्तमान में प्रचलित नगाड़े को उसी ढोल वाद्य का छोटा रूप कहा जाये तो अतिप्राचीन नहीं होगी।

हमने ढोल वाद्यों का वर्गीकरण करते हुए ढोल वाद्यों में तिस प्रकार परिवर्तन हुए इनका उल्लेख किया है। मोहन जोशियों एवं हड़प्पा की खुदाई से प्रमाण मिलते हैं कि उस समय भी दुर्धमी एवं मध्यम समान चमकाद्य थे। पाणिनीने भी ईसा पूर्व सातवाँ सदी में दुर्धमी वाद्य का उल्लेख किया है जो एक मुखी वाद्य था। दुर्धमी तथा नगारा अदिक काल के महत्वपूर्ण वाद्य थे। ढोल वाद्यों की निरूपण बतिया साधो (ईसा पूर्व दूसरी सदी) पञ्जुराहो कोणाव आदि स्थानों पर दिखाई देनी है। एकही में बनाया गया सीधा, अदर स खोखना ठोला गायद अथ सभी प्रकार के लकड़ी के टोलो से प्राचीन रहा हो। भारत के समान ही प्राचीन सुमेरियन सस्कृत (ईसा पूर्व) में भी ढोल वाद्यों का उल्लेख मिलता है। ढोल वाद्यों का उल्लेख जो। मुखी वाद्यों की अथवा रावण से भाइवाद्य रामायण में कुम्भवाद्य तथा बौद्ध काल में कुम्भतूणक के रूप में मिलता है।

भारतीय सस्कृति या सगीत के इतिहास का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्रागैतिहासिक अथवा पौराणिक तथा प्राचीन काल में ढोल इस वाद्य का अही भी उल्लेख नहीं किया गया है। भारतीय सस्कृति तथा सगीत पर मुगल तथा मुस्लिम सस्कृति की छाप पढ़ने पर ढोल नाम भारतीय सस्कृति एवं सगीत प्रचार में आया। ऐसा कहा जाता है कि ढोल नाम दुर्धम के अपभ्रंश से बना है आइने अकबरी भाग 3 पृष्ठ 268 पर इसका उल्लेख किया गया है। कुछ और ही ढोल वाद्य प्राचीन अथवा पौराणिक एवं प्रागैतिहासिक काल तक अधिक प्रचार में रहे। भारतीय सगीत में नरथ, नाटक, कठ सगीत, तनु वाद्य तथा सुपिर वाद्यों में अधिक प्रचलन के साथ इनका प्रयोग कम होता चला गया तथा इन ढोल वाद्यों के आधार पर दूसरे चमकाद्यों ने अपना अपना स्थान बनाना प्रारम्भ किया। भारत में पूर्व में ही अर्द्ध भरत एक नारथ ने दुर्धमी समान अथ अवनद्ध वाद्यों की बनाय तथा उल्लेख भरत ने किया है। भरत ने अपने ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि स्वामी

ने दुदमी के आधार पर मुरज, आलिया मदग आदि वाद्यों का निर्माण किया। अतः हम उन वाद्यों को भी ढोल वाद्यों के विकास को धर खता म जोन सक्त है।

ढोलक इस वाद्य का नामकरण शायद मुस्लिम सभृति क टाल शब्द के आधार पर किया गया होगा चूंकि अय शास्त्रीय संगीत के उपयोगी वाद्यों की अपना इसका मुख बड़े आकार का था। ढोलक यह नाम भी मध्यकाल की दैन माना जा सकता है। मध्यकाल म सूर स, परमानन्द चतुम जगम आदि के द्वारा ढोलक शब्द का उल्लिख किया गया है। 14 वीं सदी के सुधासुलग कृत 'संगीती पत्रिपद' ग्रंथ के अध्याय 4 में ढोलक, तल, डक आदि वाद्यों को म्लेच्छ वाद्य कहा गया है। लिखा गया है —

तथत्र म्लेच्छवाद्यानि ढोलक तडन मुद्यानि तु टका च टामठी चव डउ डी पादचारिणाम

यद्यपि शास्त्रीय संगीत के समृद्धशाली होने से संगीत में मदगादि वाद्यों ने अपना स्थान बना लिया तथापि लोक संगीत एवं देशी संगीत में ढोल वाद्यों का स्थान बना रहा। इसी प्रकार का एक वाद्य है डफ। ये आकार में छोटे बड़े होते हैं। इनका उपयोग लोक संगीत में सय धारण करने में होता है। कबोरा या खबोरा लोकसंगीत के अलावा ड भारतीय कर्नाटक संगीत में प्रयुक्त होता है।

कुछ वाद्य जिनको हम ढोल वाद्यों की श्रेणी में रख सकते हैं तथा जो शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त नहीं होते इस प्रकार है —

- 1 केरल के लोगो का मितायु वाद्य।
- 2 उत्तर प्रदेश का तासा।
- 3 आंध्र प्रदेश का तुडबुली।
- 4 कर्नाटक का बिडी व तासा।
- 5 तामिलनाडु का तुमुक्कू।
- 6 मझारान्द्र का सबल।
- 7 राजस्थान पापूजी की माटे।
- 8 कश्मीर का तुम्बकनारी।
- 9 गोवा का घुमर।
- 10 उडिसा का चडचडी।
- 11 लखनौ का 'अया'।

शायद स्वर स्थापना तथा वण विकास की दृष्टि से उपयोगी न होने के कारण ये म्लेच्छ वाद्य कहा गया हो।

भारतीय संगीत के समृद्ध होने के साथ साथ भारतीय ढोल वाद्यों के स्थान पर दूसरे अवनद्ध वाद्य प्रचार में आये तथा उनका प्रचार प्रसार एवं विकास होता चला गया। अब-नह इस घातु का अर्थ आ-आगत होता है। इसी कारण ऐसे

वाद्य जिनके मुख चमड़े से ढाँछा जाता या मढ़े हुए होते हैं उन्हें अनवद्ध वाद्य कहा जाता है। ऐसे अनवद्ध वाद्यों में प्राचीन काल से सारंगदेव काल तक के प्रमुखतम वाद्यों में पुष्कर एवं मृदंग हैं। मध्यकाल में मृदंग दो नामों से जाना जाने लगा एक इसकी बनावट तथा वादन शैली में भी अंतर आ गया। दक्षिण भारत में मृदंगम् तथा उत्तरी भारत में यह पखावज के नाम से जाना जान लगा।

पुष्कर — शास्त्रीय संगीत के उपलक्ष्य ग्रन्थों में भरत मुनी का 'नाट्य शास्त्र' यह ग्रन्थ सर्व प्रथम ग्रन्थ है। जिसमें अनवद्ध वाद्यों का विस्तृत बर्णन मिलता है। 'नाट्य शास्त्र' में एक, यवन आदि वाद्यों का उल्लेख होने से यह जाना जा सकता है कि भरत का काल 2री से 4वीं शताब्दी के मध्य रहा होगा। इनके समय के बारे में कोई निश्चित मत प्राप्त नहीं होता है। ऐसा माना जाता है कि नाट्य शास्त्र का लेखन भरत मुनी ने सगणित लिखित ग्रन्थ 'आदिभरत' के 12000 श्लोकों में से 6000 श्लोक लेकर किया। 'आदिभरत' ग्रन्थ भी ब्रह्म कृत नाट्य वेद के 36, 000 श्लोकों के आधार पर बना था। नाट्य वेद तथा आदिभरत के ये ग्रन्थ उपग्रन्थ न होने के कारण आज उस काल के अनवद्ध वाद्यों को नाट्य शास्त्र ग्रन्थ के आधार पर ही जाना जा सकता है। अनवद्ध वाद्यों का नाम निर्देश अथ्य ग्रन्थों में मिलता है विस्तृत विवरण नहीं है। भरतमुनी ने त्रिपुष्कर एवं मृदंग वाद्यों का विस्तृत विवरण किया है। कहीं कहीं उ होने मृदंग को ही पुष्कर कहा है इस कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है। पुष्कर का अर्थ वाद्य के मुख से आया जाता है। त्रिपुष्कर एका एका ही अंग का वाद्य था जिसके तीन मुख होते थे। त्रिपुष्कर के मुख पर मड़ चमड़े पर स्वर स्थापना के लिए माटी का लर किया जाता था। यद्यपि त्रिपुष्कर का विस्तृत विवरण एक अंग के रूप में नाट्य शास्त्र में नहीं मिलता है। इस प्रकार का वाद्य था इसका प्रयोग विजयनगर के नटराज महेश्वर के उक्त तौडव गीत में मिलता है। उसी प्रकार इरी के एक नटराज शिलालेख भी मिलता है। त्रिपुष्कर नाम का वाद्य पुना क राजा बेलहर सप्रह्लाद के विश्रामान है।

भरत मुनी ने पुष्कर वाद्य का उपयोग मृदंग के विभिन्न स्वरों के संगम में किया है। कहीं कहीं उ होने मड़ ल मुरज, को भी पुष्कर कहा है। त्रिपुष्कर का प्राचीन काल में भी प्रचार, प्रसार कम होगा इसी कारण त्रिपुष्कर का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता है। भरतमुनी ने मृदंग के लिए पुष्कर वाद्य का उल्लेख कई बार किया है तथा मृदंग के 3 स्वर हरीतकी, यवाकृती तथा गीपुष्क कृती के रूप में वर्णन किया है। आकित, आनिग्य और उर्ध्वक इन तीन पद्यों को मिलाकर भी पुष्कर ग्रन्थ के रूप में वर्णन मिलता है। कुछ विद्वान इरी 3 अंगों के वाद्य को त्रिपुष्कर के रूप में स्वीकार करते हैं।

भरत ने वाम पुष्कर दक्षिण पुष्कर इन दोनों का उल्लेख वाद्ये तथा वाद्ये।

मुख के लिए भी किया है (श्लोक 103 से 105 वृ 385) पुष्कर त्रय के तीनों मद्दगों की (ब मो की) लम्बाई, चौड़ाई तथा मुठों का ध्यास भी मिला होता था। तीनों मद्दग माटी के बने होते थे। कहीं कहीं काष्ठ निर्मित य ऐसा भी उल्लेख है। नाट्य शास्त्र के वाद्याध्याय के श्लोक क्र 23 से 44 तक का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जहाँ संपूर्ण अथ वाद्य का उल्लेख करना हो वहीं पुष्कर वाद्य का नाम उल्लेख किया है किंतु जहाँ पर अलग अलग पाटापर निकालने के विधी का बणन किया है वहाँ आकिक, आलिंग्य तथा उर्ध्वक तीनों का अलग अलग उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि, भरतकाल में मद्दग वादन 3 मद्दगों को मिलाकर किया जाता था। जैसे आज तबला वाद्य कहने पर दाया एवं बाया दोनों उसने अलग अलग आते हैं। उसी प्रकार पुष्कर वाद्य कहने पर उसके अलग अलग आकिक, आलिंग्य तथा उर्ध्वक ये तीनों मद्दग आते थे। यहाँ यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि त्रिपुष्कर तथा पुष्करत्रय वाद्य माटी के बने होने के कारण ही भरत ने उनका मद्दग नाम से उल्लेख किया होगा। पुष्कर के वादन के पूर्व उसकी (वाद्य की) पूजा कर किस प्रकार उन्हें व्यवस्थित किया जाय इसका उल्लेख वाद्याध्याय के श्लोक 273 से 277 तक किया है। वाद्याध्याय के श्लोक क्र 11 में भरत ने लिखा है कि स्वाती मुनी ने द्रुमु भी वाद्य के आधार पर मुरज, आलिंग्य, उर्ध्वक और आकिक जैसे वाद्यों की रचना की। इससे सिद्ध होता है आलिंग्य उर्ध्वक, आकिक तीन अलग अलग मद्दग होकर मद्दग समान अवतल वाद्यों को भरत ने पुष्कर कहा है। 16 अक्षर, 4 माग, विलेपन, 6 करण, 3 यति, त्रिलय, त्रिगत, त्रिप्रचार त्रियाग त्रिवाणि, पंच पाणिप्रहृत, त्रिपहार, त्रिमाजना, 18 जाति, 20 अलकार इनका निष्पादन करने में जो वाद्य सङ्ग हो उसे पुष्कर वाद्य कहेंगे (वाद्याध्याय श्लोक 37 38 39)। उपरोक्त सारे नियमों का निष्पादन आकिक, आलिंग्य या उर्ध्वक के सयुक्त वादन से ही संभव था। इसी कारण इन्हें त्रिपुष्कर कहा है। वाती मुनी द्वारा निर्मित 3 प्रकार के मद्दग, माटी के बने भरत ने बताया है तथापि भरतने पणव द्रुमु जैसे वाद्यों का काष्ठ का होता प्रतिपादित किया है। स्वाती मुनी द्वारा निर्मित मद्दग अलग अलग ध्वनि विशेष के आधार पर बने थे। इन्हीं 3 मद्दगों को भरत ने पुष्कर कहा। पुष्कर त्रय के तीनों अंगों (मद्दगों) का बणन भरत मुनी ने इस प्रकार किया है। आकिक, आलिंग्य, तथा उर्ध्वक ये तीनों मद्दग माटी या काष्ठ से निर्मित होते थे। आकिक को लिटाकर बजाया जाता तथा आलिंग्य और उर्ध्वक से यह महत्वपूर्ण था। इन तीनों में से कि ही दो अथवा एक से भी समयानुसार वादन संभव था परंतु जो नियम बताये हैं वे तीनों पर मिलाकर ही संभव थे। स्वयं महर्षि भरत ने आकिक का मद्दग के रूप में उल्लेख किया है।

(अ) आकिक—पुष्कर त्रय का यह अंग (मद्दग) वर्तमान के मद्दगम या पखावज के समान ही लिटाकर बजाया जाता था। यह लकड़ी का बना होता था। इस समय तक (भरत काल तक) माटी एवं लकड़ी दोनों के मद्दग बनाये जाते थे।

इसकी लम्बाई $3\frac{1}{2}$ बिलातु होती थी। मुख 2 होते थे तथा दोनों मुखों का ध्य 12 अंगुल होता था। इसके दोनों मुखों पर चमड़े मढ़े रहते थे। यह चमड़ा ग या वैल का दाव रहित सफेद होना चाहिये तथा चमकदार होना चाहिए था। दो मुखों के चमड़ों को आपस में डोरों से कसकर बांध दिया जाता था। इसका आकार 'हरीत की' के समान होता था। डारी या बड़ी को दो के बाद तीसरी की बीच से निकाला जाता था। यह डोरियाँ सख्या में 10 होती थीं। तबोन आंशिक गाय के घों के साथ तिल को पीसकर बने मसाले का स्याही के रूप में लेपन कि जाता था।

पुष्कर के ऊपर अलग अलग स्वर स्थापना की जाती थीं। स्वर स्थापनी प्रकार से होती थी जिन्हे माजना कहते थे। यह माजना आंशिक और उच्चर मुखों पर कायम की जाती थी। माजनाओं के अनुसार स्वर स्थापना जिम्नानु की जाती थी —

आंशिक के		उच्चर के	
माजना	बायें मुख पर	दायें मुख पर	मुख पर
1 मायूरी	गघार	पडज	पषम
2 धधमायूरी	घडज	रिपम	पचम
3 कामरिबी	रिपम	पडम	पचम

(ख) सर्वांक—पुष्कर का यह अंग लकड़ी या माटी का बना होकर बिलातु 2 चा होता था। इसके मुख का व्यास 14 अंगुल का होता था। यह रस्सुर बसाया जाता था। इसका 1 ही मुख होता था। इसे वर्तमान के बाद अनुसार ही डोरियों से कस दिया जाता था। पुष्कर वाद्य के स्वर स्थापना में इस यह विनियता रहती थी कि इसकी पचम स्वर में मिलाया जाता था। (अ य व प चमड़ा लेपन आदि मदन के समान ही समया जाके)।

(स) आलिष्य—पुष्कर का यह अंग भी लकड़ी का बना होता था। इस भी एक ही मुख होता था। ऊर्चाई 3 बिलातु तथा मुख का व्यास आठ अंगुल होता था। इसके पुडी की भी वर्तमान तबले के बायें के अनन्तर ही कसा जाता था इस अंग (म ग) को खज स्वर में मिलाया जाता था। माजनाओं में आलिष्य स्वर स्थापना का कोई उल्लेख नहीं है। इसका चमड़ा, लकड़ी, डोरी, लेपन, आ मदन के समान ही था। इसे मद्र सप्तक के मध्य सप्तक के पडज भी मिलाते थे।

उल्लेख ऐसे वाद्य से किया है जिसका मुख घण्ट से मड़ा हो। ऐसे 3 प्रकार के पुष्कर (मदग) पुष्कर त्रिपुष्कर कहा है। श्लोक 103 वे 105 तक माजना की स्थानों में मुख के स्थान पर वाम पुष्कर तथा दक्षिण पुष्कर कहा है। उसी प्रकार आय 33 के श्लोक 36 में मदग, पणव तथा ददुर आदि बाजों की पुष्कर वाद्य कहा है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पुष्कर कोई बलग से वाद्य नहीं था। इसा समझा जा सकता है कि पुष्कर तीर्थ के समान पवित्रता का अथवा विशेषता का भास कराने के लिए तथा स्वाती को धाद रखने के लिए मदग वाद्य को पुष्कर कहा हो। क्योंकि स्वाती के मदग और भरत के मदग के बनावट में अंतर आया हो।

मूदग

नामकरण—मूदग यह संस्कृत भाषा के दो धातु मूत + अग से बना है, यह सबमाय है। मत अर्थात् माटी और अग यानी शरीर। अतः माटी से बना अग जिस वाद्य का है उस हम मूदग कहते हैं। यह इसके नामकरण का शाब्दिक अर्थ बना है। कुछ विद्वान अग का अर्थ मदग के एक किसी भाग का माटी का होना बताते हैं और इस प्रकार इस वाद्य के नामकरण के संबंध में दो अर्थ निकाले जाते हैं—

1 ऐसा वाद्य जिसका शरीर (अग) मिट्टी का बना हो।

2 ऐसा वाद्य जिसके शरीर का एक अग (अश) माटी से बना हो।

यहां हमें यह ध्यान देना होगा कि मदग की उत्पत्ति के आधार पर ही इसका नामकरण कैसा हुआ यह समझा जा सकता है। संस्कृत भाषा में कहीये अथवा हिंदी भाषा में कहीये मूदग का सघि विच्छेद मत + अग सही है। जब हम सघि विग्रह के विचार से सोचेंगे तो माटी से बना अग जिसका हो वह मूदग यह उचित मानी जाता है। अब हमें भी समझना होगा कि मदग की निमित्त कितनी पुरानी है। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र ग्रंथ में 'स्वाति मूनी द्वारा एसा नारद द्वारा गार्धर्ष के वाद्य वादन के विषय में विस्तार से मद्गादि वाद्यों के गुण संक्षण तथा कार्य के विषय में (अपने ग्रंथों में) बतलाया है' एसा उल्लेख किया है (या एसा अध्याय 33 श्लोक 3)। यहाँ उन्होंने प्रमश स्वाति तथा नारद के जीवन समय का उल्लेख नहीं किया है। मदग की उत्पत्ति के बारे में कई किंवदंतियाँ हैं। स्वाति तथा नारद की अवलंब बाजों का आधिकर्ता मानना उचित नहीं होगा। यह संभव है कि स्वाति के संबंध में पुष्कर निर्माण का जो उल्लेख भी भरत ने किया है वह मदग के प्राचीन रूप में सुझा हो। इसीलिए भरत मूनी, पुष्कर के स्थान पर वही 2 मदग वाद्य का उल्लेख किया है।

पौराणिक काल में (ऐदिक काल में नहीं) दुदुमी तथा मदग का उल्लेख महाभारत पुराण में मिलता है। संभव है कि सर्वाप्रथम मूदग का अग (शरीर) माटी का ही बनाया गया हो। कालांतर के बाद मदग की (शरीर या अग का

माटी से बने होने की कारण) स्याई मन उपयोगिता के कारण उस का अगः शरीर लकड़ी का बनना प्रारम्भ कर दिया गया हो कि तु उसके नामकरण में क परिवर्तन न किया गया हो ।

अब हम दूसरे अर्थ पर विचार करेंगे कुछ विज्ञान मृदग (मृत्+अग) अर्थ दूसरे प्रकार से निकालते हैं कि 'जिसके शरीर का एक अग (भाग) माटी है (अर्थात् माटी का विलेपन) वह मृदग है । यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि विलेपन मृदग का स्याई अग था ? यदि नहीं तो केवल समयोचित उपयोग माटी का विलेपन करने पर उसका मृदग के नामकरण से संबंध जोड़ना उचित है ? यदि लेप (विलेपन) के आधार पर ही उसे मृदग कहा जाना उचित मानते तो समय समय पर विलेपन में अंतर भी आता गया है । भरत मुनी ने स्वयं के धी के साथ तिलवा घूण कर विलेपन करने का उल्लेख किया है ।

अतः इसके नामकरण के बारे में एक निश्चिन्त धारणा नहीं बन पाती है कुछ विद्वान पहले मत का तथा कुछ विद्वान दूसरे मत का प्रतिपादन करते हैं ।

उत्पत्ति — विद्वानों के मतानुसार मृदग भारतीय शास्त्रीय संगीत का आविष्कारक वाद्य है । ऐसा कहा जाता है कि इसकी उत्पत्ति ब्रम्हा द्वारा हुई । इस प्रकार अनेक किवदतियाँ मृदग के उत्पत्ती के बारे में प्रचलित हैं । साधारणतया देखा गया है कि मनुष्य जिस किसी रहस्य या वस्तु के उत्पत्ती के बारे में अनभिज्ञ होता है उसका सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ देता है । ऐसा करने से उस वस्तु के लिए आभजनता स्वाभाविक रूप से आकर्षित होकर उस वस्तु के श्रेष्ठता को मानकर लेती है । इसी प्रकार कुछ किवदतियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं —

'भगवान् शंकर ने जब त्रिपुरासुर नामक राक्षस का वध किया तो आनन्द के अतिरेक में नृत्य करने लगे । यह नृत्य लय में नहीं था । अतः इस कारण पृथ्वी काँपने लगी । जगत स्रष्टा ब्रह्मा जी ने जब देखा कि पृथ्वी रसातल में खड़ा है तो भयभीत होकर प्रलय निवारण हेतु उड़ते तुरन्त त्रिपुरासुर के शरीर अशोज से मृदग की रचना की । मृदग वादन कर लय धारण का काम भी गणेश जी ने किया । लय की धारणा से शंकर जी भी लय में नृत्य करने लगे तथा पृथ्वी रसातल में जाने से बची । इस प्रकार मृदग की उत्पत्ती हुई ।'

पुष्कर (मृदग) के विषय में दूसरी किवदति इस प्रकार है कि —

'भारतीय संगीत के उपलब्ध आदि संगीत ग्रन्थ भरत वृत्त नाट्य शास्त्र : भरत मुनी ने लिखा है कि पुष्कर (मृदग) समान अविष्कारक वाद्य के निर्माता स्वामि तथा नारद हैं । इस के सन्दर्भ में भरत कहते हैं एक बार स्वामि मुनि अन्धकार के दिग्भ्रम आकाश में बालू छापे हुये होने पर जल लाने के लिए एक सरोवर पङ्क्त गये । जब वे सरोवर में जल लेने की उतर तो (इन्द्र ने पृथ्वी पर सागर बना के विचार से) मूसलाधार वर्षा आरम्भ हुई । उस सरोवर में वायु के वेग से और बड़ी वृद्धि के कमल के पत्तों पर गिरने के कारणभिन्न भिन्न किंतु मधुर

उत्पन्न होने लगी। मुनी ने इस अप्रुव ध्वनि को जेष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रका के विभाजन पर विचार कर विश्वकर्मा की सहायता से, इन ध्वनियों के आधा पर 3 प्रकार के मूद गों का निर्माण किया। इसे पुष्कर नाम दिया। ये अलग अलग ध्वनीधारणा युक्त 3 मूद ग ही त्रिपुष्कर कहलाये (भा शा अध्याय 33 श्लो 5 से 10)। इन तीन मूद गों को आंकिक, आलिंग्य तथा उच्छ्रक नाम दिये।

भरत मुनि ने यद्यपि स्वाति तथा नारद का मूद ग, पुष्कर, पणव तथा ददुर वाद्यो का प्रणेता बतलाया है तथापि उ होने स्वाति तथा नारद के समय काल के बारे में कोई उल्लेख नहीं किया है। हो सकता है कि स्वाति तथा नारद ने षडिक काल या पौराणिक काल में मूद ग का निर्माण किया हो। तभी पुराणकाल (ई पूव 1000 वय से) बौद्धकाल, रामायण काल, महाभारत काल तथा भरतकाल तक मूद ग का उल्लेख है।

विकास एवं इतिहास — जब हम भारतीय सस्कृति के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो ईसा पूर्व 8000 से 5000 वय का काल आर्यों के भारत की ओर स्थानांतरण करने का काल रहा तथा ईसा पूर्व 5000 से 2000 वय का काल आर्यों के सस्कृति के उन्नती के प्रारंभ का काल माना जाता है। भारतीय सिंधु सस्कृति का काल ईसा पूर्व 3000 से 1500 वर्षों का कहा जाता है। इसमें थोड़ा बहुत मतभेद भी हो सकता है। यहाँ इसका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि भारतीय सस्कृति से भारतीय संगीत तथा वाद्यो का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। ईसा पूर्व 2000 से 1000 के काल में अनेक षडिक सूक्तों की रचना की गई। वैदिक काल में मुख्य रूप से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्वेद और यजुर्वेद के चार, महत्वपूर्ण लिखे गये ग्रंथों में से है। इसके बाद स्कन्दपुराण, भावदेय पुराण आदि पुराण ग्रंथ प्राप्त होते हैं।

वैदिक काल — हमारे भारतीय सस्कृति की ज्ञान समृद्धि श्रेणी में सकलित है। वैदिक काल में संगीत उत्कर्ष पर था। वैदिककाल में स्वरसंस्कार या इसका उल्लेख मतंग सोमेश्वर ने किया है। यद्यपि सप्तस्वरों के नाम बतलाने स्वरों से अभिन्न थे। उसी प्रकार दत्तावन्ति (द्वललय) मध्यमावन्ति (मध्यलय) तथा विलानिता वन्ति (विलंबित लय) का उल्लेख भी श्रेणियों के अध्ययन से प्राप्त होता है। धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों में संगीत का प्रयोग अनिवाय सम्पन्न जाता था। आम नागरिकों में संगीत के प्रति सम्मान की भावना व्याप्त थी। स्त्री एवं पुष्प को समान रूप से संगीत उपासना करने का अधिकार था। संगीत का सम्मान जनक स्थान होने पर भी उस समय दु दुभी, भूमि दु दुभी समान लय वाद्यो का ही उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बाद कालीन संगीत में इन वाद्यो पर लय स्थापना तो की जाती थी किंतु विशेष स्वर स्थापना या तालों से संगीत का परिमाणन नहीं होता था। मूद ग का कही भी उल्लेख नहीं है। इससे यह निश्चय निकलता है कि वैदिक काल तक मूद ग का निर्माण नहीं हुआ था।

वदिक काल का समय ईसा पूर्व 2000 से 1000 वर्ष तक माना जाता है। कई इतिहासकार ईसा पूर्व 1700 से 800 वर्ष का भी बताते हैं। वदों में सर्वाप्रथम वेद 'ऋग्वेद' था। इसकी रचना ईसा पूर्व 1500 वर्ष के लगभग की गई थी। और इसके बाद ही अन्य वेद ग्रंथों की रचना हुई होगी।

यद्यपि वेदों में मृदगादि चर्म वाद्यों का उल्लेख नहीं है। तथापि भारत के सिंधु घाटी की सभ्यता जो उससे भी प्राचीन है (असका काल ईसा पूर्व 3000 से 2000 वर्ष साधारणतः माना जाता है) के अवशेषों से मृदग समान तथा अन्य प्रकार के ताल वाद्य होने की संभावना उत्पन्न होती है। सिंधु घाटी सभ्यता के नगरों का उष्ण के साथ साथ उस संस्कृति के समाप्ती का काल ईसा पूर्व 1750 वर्ष बताते हैं। मृदग समान वाद्य उस काल में होने का प्रमाण हड़प्पा व मोहन जोड़ो नगरों के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में मिलते हैं। इन नगरों के प्राप्त अवशेषों के मिति चित्रों पर तथा मुद्राओं पर मृदग समान वाद्य का वादन करते हुए मानव आकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। यह वाद्य गले में टांगकर दोनों हाथों से बजाने हुए बताया गया है। यह कहना कि उस काल में मृदगादि वाद्यों का निर्माण हुआ था या नहीं, कठिन है।

पुराण काल—(ईसा पूर्व 1000 से 600 वर्ष) मृदग का सर्व प्रथम स्पष्ट उल्लेख प्राचीन आणव्य कालक गृह्य सूत्र में ईसा पूर्व 800 वर्ष के लगभग प्राप्त होता है। पौराणिक काल में ददुर, पणव आदि मृदगादि चर्म वाद्यों का प्रचार एवं प्रसार था ऐसा उल्लेख माण्डूकेय पुराण से मिलता है। स्कन्द पुराण, वायु पुराण में भी इन ताल वाद्यों का उल्लेख है। किंतु इन वाद्यों के संबंध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं है।

तैत्तिरीय उपनिषद्, तेतरेय उपनिषद् में तथा अतिरिक्त याज्ञवल्क्य रत्न प्रदीपिका, प्रतिभाष्य प्रदीप, नारदीय-शिक्षा प्रभृति ग्रंथों में भी संगीत एवं नृत्य का परिचय मिलता है। हरिवंश पुराण में भी ददुर पणव, मृदगादि वाद्यों का उल्लेख है।

बीड काल—(ईसा पूर्व 550 वर्ष) इस काल में भी संगीत अपने चरम उत्कर्ष पर था। अतः हम कह सकते हैं कि इस काल में भी मृदगादि तालवाद्यों का प्रयोग होता होगा क्योंकि पुराण काल में मृदगादि वाद्य प्रचलित थे तथा बाद में रामायण महाभारत काल में भी मृदगादि ताल वाद्यों का उल्लेख है।

रामायण महाभारत काल (ईसा पूर्व 400 से 200 वर्ष)—वाल्मीकी रामायण के सुन्दरकांड सर्ग 11 में मृदग तथा मुरज दोनों वाद्यों का उल्लेख किया गया है। इसके अलावा भेरी, दुदुमी, घट मृदुदुक, आदंबर आदि वाद्यों का उल्लेख भी है। मृदग का प्रयोग ताल वाद्यों में अधिक प्रमाण में होता था मृदग का जितना विवेकन प्राप्त नहीं है। तथापि यह उल्लेख कि मृदग भारती के अंग का तो

मुष्ठी चमकाव या सुवा उसे दोनों हाथों से बजाया जाता था, छल्प रम मे मिलता है ।

महाभारत ग्रंथ में भी मृद ग तथा भुरज के प्रयोग का उल्लेख है । इस काल तक माटी के अंग के स्थान पर काष्ठ के प्रयोग का उल्लेख है । इस काल तक माटी के अंग के स्थान पर काष्ठ के अंग के मदगों का निर्माण होने लगा था । (संगीत रूपण के अनुसार) । काष्ठ के अंग से बने मदग की ध्वनि माटी के अंग से बने मृद ग की अपेक्षा अधिक मधुर होती थी । कि ही कि ही ध्वनिकारों ने काष्ठांग निर्मित मद ग की मधुर मृद ग कहा है ।

भारत कृत नाट्य शास्त्र काल (ईसा पूर्व 200 से ई सन् 200 तक)—
यहा भरत का काल ई पू 200 से ई स 200 देने का कारण यह है कि नाट्य शास्त्र के लेखक भरत के निश्चित समय के बारे में संगीत विद्वान एकमत नहीं है । है । तथापि आम धारणा ई स 200 क आसापास भाय है । कुछ कुछ विद्वान ई स 400 का काल नाट्य शास्त्रकृत भरत का काल मानते है । भरत नाम का उल्लेख पाणिनी के ग्रंथ तथा वाल्मिकी रामायण मे भी मिलता है । अत हम कह सकते है कि भरत यह उपनाम है जिसका उल्लेख नाट्य कला या शास्त्र के विद्वान के रूप में किया जाता रहा होगा । भरत ने अपने ग्रंथ के 33 वे अध्याय के प्रारंभ मे ही कहा है कि "स्वाति तथा नारद ने ऋषय गधव के वाद्य वादन के विषय मे मृद ग पणव, तथा ददुर की वादन विधि, लक्षण, गुण तथा काय को बताया है" । इन दोनों (स्वाती, नारद) के लिखित ग्रंथ प्राप्त न होने से मदगादि वाद्यो के सदिभ में विस्तृत विवेचन भरत कृत नाट्य शास्त्र से ही प्राप्त होता है । भैसे भी संगीत के उपलब्ध ग्रंथो मे सब प्राचीन यही ग्रंथ माना गया है । भरत ने स्वाति मुनी के अनुसार ही मृदगादि पुष्कर वाद्यो का विवेचन किया है । भरत पूर्ण तक वास्तव मे मद ग का स्वल्प जसा था यह कहना कठिन है । भरत काल तक मृद ग का अंग लकड़ी का बताया जाते लगा था । उसके पूडी पर गाय के घी मे तिल पीसकर उसके मसाले का लेप लगाने का भी उल्लेख भरत ने किया है । भरत ने तीन प्रकार के मृद गों का उल्लेख किया है जिन्हें आंकिक, उड कि तथा आलिंग्य कहा है । उन्होंने इन तीना मृद गों को जो ऋषय हुरीतकी, यवाकृति तथा गोपुच्छाकृति रूप के थे, त्रिपुष्कर कहा है । इन तीनों मृद गों के (पुष्कर वाद्यो के) वादन के नियमों का (16 अक्षर, 4 माग, विलपन, 6 करण, तीन यतिया त्रिलय, त्रिप्रचार, त्रिगत, त्रियोग, त्रिवाणि, पक्षपार्ण प्रहृत, त्रिप्रहार, त्रिमाजना, 18 जातिया, और 20 ललकार) विस्तृत विवेचन किया है । इसी प्रकार 33 ो अध्याय के श्लोक 242 से 259 तक वाद्यो का स्वरूप उर्भ काष्ठ, लेपन आदि का विवेचन किया है । इसके अलावा नये मृद ग वादन के पूर्ण उत्तकी स्थापना, पूजा आदि का वर्णन किया है । उत्तम वाद्य के लक्षण भी बताया है । मद ग समान वाद्यो (ददुर पणव आदि) को अगनाथ तथा शकरी, पटह समान वाद्यो को प्रत्यग वाद्य कहा है ।

मद गादि वाद्यों में दुःसुभी समान आवाज अधिक जोरो से नहीं होती। इनमें स्वरों की सप्टी होती है तथा इनमें मधुर गुण होती है। इनमें विधिवत प्रहारों की व्यवस्था है। सप्ट अदारों की व्यवस्था होती है तथा इन पर मात्रा धारण कर स्वरों को निश्चित किया जाता है इसके विपरित भेरी झल्लरी, पटह दुःसुभी तथा डिडिम जैसे प्रत्यग (गौण) वाद्यों का आकार बड़ा होने से तथा गिथिलता रहने से केवल गम्भीर ध्वनि की उत्पत्ति होती है। उत्सव, राजकीय यात्रा, मंगल अवसर, विवाह, पुत्रोत्सव, अघटित घटना, युद्ध स्थिति आदि के अवसर पर अथ (मुख्य) तथा प्रत्यग (गौण) वाद्यों की समयानुसार योजना करने का उल्लेख भी किया है। गायन, वादन नृत्य के साथ मद्ग का वादन साद्य वादन के 20 प्रकार, उसका योजना, मद्ग वादन के गुण दोष आदि का विस्तृत विवेचन किया है।

उपरोक्तानुसार भरत ने मद्ग का जो विस्तृत विवेचन किया है इससे यह समझ में आता है कि भरत के समय में मद्ग, उसका स्वरूप वादन, धिमा आदि ने कितना ऊँच स्थान बना लिया था। भरत मुनि के बाद उनके गिथियों ने नाट्य शास्त्र के आधार पर ही अन्य वाद्यों की रचना की थी।

भरतकाल से लगभग ग्यारहवीं सदी तक के पुरातत्व सर्वेक्षण ने दर्शाया कि एक त्रिपुंकर वाद्यों के वादन के प्रमाण मिलते हैं तथापि भरत काल के बाद कालांतर में त्रिपुंकर वाद्यों के विघटन से मुख्यतः दो प्रकार के स्वतंत्र अवनद्ध वाद्यों का विकास प्रारम्भ हुआ। एक लिटाकर बजाये जाने वाले द्विगण्डमुष्ठी (आकृति समान) तथा दूसरे ऊँध्वमुष्ठी (ढङ्क और आलिङ्गक के समान)। भरत के बाद के काल में पार्श्व त्रिपुंकर वाद्य का विघटन होने लगा था।

पुंकर वाद्यों के विघटन के कारण

(1) मनुष्य की प्रकृति ने दो ही हाथ दिये हैं। इसलिए एक ही समय में दो मुखों का वादन कर सकना स्वभाविक एवं सुविधापूर्ण होता है। त्रिपुंकर के 3 अथ तथा 4 मुखों का वादन मनुष्य को असुविधापूर्ण लगा होगा।

(2) हाथों की एक ही प्रकार की स्थिति में रखकर बजाना सुविधापूर्ण होता है। त्रिपुंकर के दो पार्श्व मुखों तथा दो ऊँध्वमुखों स्थिति के कारण पुंकर वाद्यों का वादन असुविधापूर्ण रहा होगा।

(3) एक समान हाथों की स्थिति के वादन में गतिशीलता सहज उत्पन्न हो सकती है किन्तु दो अलग अलग स्थितियों के (पार्श्वमुखों तथा ऊँध्वमुखों वादन स्थिति) वादन में गतिशीलता लाने में असुविधा रही होगी।

(4) भरत काल के संगीत में पटङ्ग और मध्यम दो श्रेणियों का प्रचार था और मूढनाओं में पटङ्ग अचल नहीं रहता था। त्रिपुंकर वाद्यों के मुखों की मूढनाओं के अनुसार स्वरों में स्थापित किया जाता था। आकृति के दोनों मुखों को अलग अलग स्वरों में स्थापित किया जाता था। आलिङ्गक को मद्ग सप्तक के निषाद या धर्ज के पटङ्ग स्वर में मिलाते थे तथा उर्गाक को पंचम स्वर में स्थापित किया जाता था।

फालांतर में संगीत में परिवर्तन के साथ पट्टज स्वर के अचल होने में, एक ही ग्राम में संगीत व्यवहार होने लगा। इस कारण त्रिपुंकर के भाजनाद्यो का महत्व नहीं रहा तथा त्रिपुंकर के 3 वाद्यो का वादन असुविधापूर्ण हो गया होगा।

(5) एक मुख को नियत स्वर में तथा उड़ी प्रकार काय दूधरे किसी भी मुख को नियत स्वरों में मिलाने से ही काय सिद्धी होने लगी होगी तथा त्रिपुंकर के 4 मुखों के असुविधापूर्ण वादन का महत्व कम होने लगा होगा।

(6) वादन करते समय खड़े होकर या बैठकर बजाने में आकृिक के दोनों पाश्वमुखी अथवा आतिग्य उर्ध्वक के उर्ध्वमुखी दो मुखो का वादन सुविधापूर्ण रहा होगा।

(7) राजा की गोमायात्रा, विवाहात्मव, धार्मिक उत्सव आदि में चलाय मान स्थिति में वादन के लिए आकृिक के दो मुखी वादन का प्रकार अधिक हुआ होगा तथा आतिग्य उर्ध्वक का कम। आकृिक मध्य को गले में बंधे पर लटकाकर खड़ा होकर वादन करने में सुविधा रही होगी। पुरातत्व सर्वेक्षण से खड़े होकर आकृिक के दो मुखी वादन क तथा बैठकर उर्ध्वमुखी आतिग्य उर्ध्वक के वादन क प्रमाण मिलते हैं।

(8) 'नाट्यशास्त्र में पुंकर वाद्यो का नाट्य के वाद्यव द के साथ अनिवाय अंग के रूप में तथा नाट्य के सदम में ही वादन का उल्लेख किया गया है। फालांतर में जब गायन, वादन, नृत्य कलाओं में एकल विद्या का महत्व बढ़ता गया तो समस्त पुंकर वादन असुविधापूर्ण रहा होगा तथा एक निश्चित स्वरों के दो मुखी वाद्य विकसित हुए होंगे।

(9) नवी दसवीं सदी से बाहरी आक्रमणों के कारण राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक जीवन में अस्थिरता आ गई। कुछ कलाकारों को रात्रायम मिला तथा कुछ को नहीं। ऐसे कलाकारों की कला लोक कला के रूप में प्रस्तुत होकर सामने आई। इस प्रकार 13 वीं सदी तक पुंकर वाद्यो का वादन सामान्य प्राय हा चुका था।

भरत काल के बाद (3री सदी से) शारंगदेव काल (13वीं सदी) तक मृदंग मर्दल और फिर मृदंग

हमने पिछे मृदंग पुंकर एव डोलवाद्य के वर्णन में यह देखा कि भारतीय संगीत के इतिहास में मृदंग यह वाद्य सबसे प्राचीन अवनष्ट वाद्य है जिसकी गायन, वादन एव नृत्य के साथ वादन में प्राचीन काल से ही प्रमुख भूमिका रही है। हमने यह भी देखा कि धीरे धीरे पुंकर वाद्य का विपटन क्यों हुआ। भरत काल के बाद से शारंगदेव के काल तक जिन संगीत ग्रंथों की रचना हुई उनमें पुंकर वाद्य का बहुत कम उल्लेख मिलता है। मृदंग का उल्लेख तो हमारा है किन्तु उमरु गठन, वादन आदि का विस्तृत विवेचन प्राप्त नहीं है। 3 वीं सदी से 13 वीं सदी

तक जो स गीतकार हुए उनका उल्लेख कई ग्रंथों में आया है जैसे—दत्तिलम, भरतमाध्य, कुट्टणीमत आदि । जो ग्रंथकार या संगीतकार हुए उनका उल्लेख शारंगदेव ने अपने 13 वीं सदी में लिए 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में किया है । (भरत काल के बाद) शारंगदेव ने जिन आचार्यों का उल्लेख किया है व इस प्रकार है विशाखिल, कोहल दत्तिल शादुल वश्यप, दुर्गा दत्तिल, मातगुप्त, मनग, राहुल, कीर्तिधर उम्भट इत्यादि अमिनव गुप्त भोज, ना वदय सोमशर आदि । इन सभी ग्रंथकारों ने लगभग भरत के समान ही मत का प्रतिपादन किया है ।

यहां यह ध्यान रहे कि यद्यपि शारंगदेव के पूर्व आचार्यों ने भरतमत का प्रतिपादन किया तथापि मन्ग के स्थान पर कही कही मदल इस शब्द का उपयोग होने लगा था । कालीदास ने (4 वीं सदी, मन्ग, मूरज तथा मदल तीनों शब्दों का उल्लेख किया है । हम कह सकते हैं कि भरत काल के बाद (जब कि भरत ने पुष्कर वृक्षर अलग अलग मूंगों का उल्लेख किया था), मदल तथा मूरज शब्द का उल्लेख मदग के स्थान पर किया जाने लगा ।

शारंगदेव के काल (13 वीं सदी) में मदग का स्थान मदल ने ले लिया था इस आधार पर हम कह सकते हैं कि शारंगदेव काल के पूर्व ही भरत उल्लिखित आदिक का ही प्रचार रहा होगा तथा उसका उल्लेख मदल या मूरज शब्दों ने ले लिया होगा । विशाखर मदल शब्द अधिक प्रचलित भ रहा होगा तभी शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' के अध्याय 6 (तालाध्याय) के श्लोक 127 में कहा है कि

'श्लोक मन्ग शब्देन मुनिना पुष्कर त्रयम ।

अत्यन्तव्यवहायत्वानि शब्दो न तनीति तत ॥

'भरत मुनी ने मदग को त्रिपुष्कर के रूप में बताया है । (बहु मदग या त्रिपुष्कर शब्द) अत्यन्त व्यवहारिक (इस काल में) होने से मैं (शारंगदेव) उसका वर्णन नहीं कर रहा हूँ ।

(शारंगदेव) ने मदल का जो वर्णन वाद्याध्याय के श्लोक 1019 से 1031 तक किया है वह संक्षिप्त में इस प्रकार है —

मदल रत्तचन्न अथवा बीज की लकड़ी से बनाया जाता था । उसका छोड़ (अथ) बीच में से छोड़ला होकर उसकी लम्बाई 21 अंगुल होती थी छोड़ की दोनों मुठों पर मुट्टाई आध अंगुल की होती थी । दायांमुख 13 अंगुल और बायां मुख 14 अंगुल यास का होता था । मदल का अग बीच में से उठा हुआ रहता था । मुखा के ध्यास की अथवा 1 अंगुल बड़ा चमड़ा, जिसमें 1-1 अंगुल की दूरी पर 40 छेद कर, उन छेदों में से बन्नी डालकर दोनों मुखों पर कस दिया जाता था । मात और राख मिलाकर विलेपन के लिए मसाला तयार कर पुडी के आकार में बाये मुख पर मोगा पर तथा दायें मुख पर थारीक धर (बनमान स्याही) बीचों बीध लगाया जाता था । इस प्रकार के विलेपन से मदल किंतु गम्भीर ध्वनि उत्पन्न होती थी ।

धारगदेव ने कुछ आवाजों के अनुसार 30 अगुल सम्बाई, दोनों मुखों पर लकड़ी की पुगई । अगुल, दाया मुख 11½ अगुल तथा बाया मुख 12 अगुल, ऐसे बाद्य के होने का भी उल्लेख किया है ।

इससे यह प्रमाणित होता है कि धारगदेव काल तक अलग अलग आकारों के मृदंगों (मदलों) का निर्माण किया जाता था । धारगदेव ने कहा है कि मदल की ही मदग और मुरज कहते हैं । उन्होंने अलग अलग मुखों के पाटवण, मन्दल वादक के लक्षण, मदल व द तथा मदल वादक के गुणगोपों का भी वर्णन किया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धारगदेव काल में मृदग ने मन्दल तथा मुरज नाम प्राप्त कर लिया था ।

भारतीय सगीत के इतिहास पर धारगदेव के बाद मध्ययुग में हुए राजनैतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ का गहरा प्रभाव पड़ा । यहाँ से उत्तर भारतीय एवं दक्षिण भारतीय सगीत की नींव पड़ी । दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा विद्वान् पण्डितों में प्रचलित रही किंतु उत्तर भारत में उर्दू, हिंदी, फारसी आदि भाषाओं का प्राधान्य रहा दक्षिण भारतीय सगीत पर प्राचीन भारतीय सगीत, ताल एवं वाज्यों का प्रभुत्व बना रहा तथा उत्तर भारतीय सगीत में बदलाव आया । इस कारण दक्षिण भारत में मदल ने पुनः मदगम (संस्कृत) नाम धारण कर लिया ।

पखावज - भारतीय सगीत के इतिहास का अध्ययन करने पर हमें पता होता है कि, मध्यकाल में कई सगीत के आवाज या तो स्वयं उत्तर भारत की ओर गये या उन्हें मुगल शासकों ने दक्षिण के राज्यों के जीत के बाद अपने साथ ले जाकर अपने दरबारों में स्थापन दिया । मुगल संस्कृति के कारण उत्तर भारतीय सगीत के बाद्य, पर भी अंतर पड़ा । उत्तर भारत में मन्दल नाम के स्थान पर 'पखावज' शब्द प्रचार में आया । यह फारसी शब्द है । पखावज का अर्थ कई तरह से निकाला जाता है -

1—पख (मृ) - आवाज, जिस पर आसदार आवाज निकले ।

2—पखावज - पखवाज का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है पूरी पख

(पूरी बाजू) के दम से बजाया जाने वाला ।

इस प्रकार कई अर्थ निकाले जाते हैं । इसी प्रकार कुछ सम्प्रयुक्त तब सामने आते हैं जैसे आतोष का अपभ्रंश शब्द आवज है जिसका उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है । आतोष यानि बाद्य । इस प्रकार आवज यानि बाद्य पख यानि पूरी बाजू । पूरी बाजू के दम से बजाया जाने वाला बाद्य पखावज है यह धारणा की अधिक संशक्त महसूस होती है । आवज इस बाद्य का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है । मध्य युग में लिखे गये 'आग्ने अक्षरी' में आवज इस सार के समान बाद्य का वर्णन मिलता है ।

नाट्यशास्त्र के आधार पर प्राचीन मागी-तालपद्धति

भारत का साहित्यिक इतिहास अति प्राचीन है। इसके काल विभाजन के सद्य में सगीत के आचार्यों में मतभेद नहीं है तथापि सद्यमाय विचारों से हम सगीत के इतिहास को निम्न कालखण्डों में विभाजित कर सकते हैं —

- | | | |
|---|-----------------|---|
| 1 | अति प्राचीन काल | — प्रागतिहासिक काल, ईसा पूर्व 3000 वष से ईसा पूर्ण 1000 वष तक |
| 2 | प्राचीन काल | — वैदिक काल के बाद ईसा पूर्ण 1000 से इ स 800 तक |
| 3 | मध्यकाल | — मुस्लिम काल 800 इ स से 1800 इ स तक |
| 4 | आधुनिक काल | — इ स, 1800 के बाद से वर्तमान तक |

अति प्राचीन काल में ईसा के 3,000 वष पूर्व भी भारतीय सगीत उन्नत अवस्था में था यह सिधु घाटि के उपपत्यकाओं के खनन से प्राप्त तत, सुपिर तथ अवनद वाद्यो के धरण किए खडित मूर्तियों से प्रमाणित होता है। वैदिक काल के वंशों में (सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद एव अथर्ववेद) दत, लघु, गुरु आदि (मात्रिक काली का महत्त्वपूर्ण स्थान था। यज्ञों के समय साम गान आवश्यक होता था। साम गान के साथ दुग्भी का वादन होता था। अथर्व वेद में ऋषि निमित्त दुग्भी तथ उसकी बनावट का ध्यान मिलता है।

वैदिक काल के बाद तथा ईसा पूर्व के श्यों में रामायण, महाभारत, पुराण बोट ग्रंथ आदि प्रमुख हैं। इनमें भी अवनद वाद्यो का स्पष्ट उल्लेख है किंतु ताल पद्धति का उल्लेख नहीं है।

भरतकाल —

ईसा के बाद के प्राचीन उपलब्ध श्यों में भरतमुनि का नाट्यशास्त्र ग्रंथ सर्वप्रथम ग्रंथ है। सगीत के क्षेत्र में इसे प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में माना जाता है। यह ग्रंथ वास्तव में 'नाट्यशास्त्र' ही है। नाट्य में सगीत के गायन, वादन, नृत्य, तीनों कलाओं का आवश्यक होने का निर्देश भरत ने दिया है। इसी सारतम्य में सर्व अध्यायों में प्रसंगानुसृत गायन, वादन और नृत्य का उल्लेख किया गया है। अध्याय प्रथम के 28 से 33 वे अध्याय तक सगीत की विधाओं का विस्तृत विवेचन किया

६। 28 वा अध्याय आतोद्य विधान, 29 वा अध्याय ततातोद्य विधान 30 वा अध्याय सुचिरातोद्य, 31 वा अध्याय तालविधान, 32 वा अध्याय धृवाविधान, तथा 33 वा अध्याय अवनद्ध आतोद्य के रूप में लिखे गये हैं।

28 व अध्याय में ही भरत ने वाद्यों का वर्गीकरण तत, अवनद्ध, घन, तथा सुपिर इस प्रकार किया है। 31 वे अध्याय में ताल विधान का विस्तार किया है तथा परिभाषाओं को स्पष्ट किया है। 33 वे अध्याय में अग तथा प्रत्यग अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख करते हुए अग वाद्यों की संगीतोपयोगी बताकर उनकी रचना एवं पाठाक्षरों का विस्तृत विवेचन किया है। भरत ने ताल निर्वाह क्रिया को आधारित तथा वाद्यों में ताल निर्वाह को चारी बताया है। विनादित, मध्य, दत्त सूर्यों की श्रमण तत्व, अनुगत तथा ओघ कहा है। सशब्द क्रिया तथा निशब्द क्रियाओं को बताया है। गीति आदि के लिए ताल निर्धारण के लिए तालका होना आवश्यक बताया है। सधु गुरु और प्लुतादि मात्रा काल मापकों को उद्धृत किया है।

भरत ने अवनद्ध वाद्यों की रचना, निर्माण आदि का विवेचन करते हुए पुष्कर पाद्य को सभी अवनद्ध वाद्यों में सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। अन्य वाद्यों में मदल, मृदंग, पणव, ददुर, धूमि, टुटुमी, टुटुमी, सल्लरो, तथा पटह का भी विवेचन किया है।

पुष्कर (मृग) वाद्य के षट्क में—16 पाटवण, 4 माग, 6 करण, विलेपन, त्रियति त्रिलय, त्रिशर त्रियोग, त्रियाणि, त्रिशृहार, पञ्चपाणिग्रहत् त्रिमात्रना, त्रिभि आदि वाद्य एवं वादन संबंधी उपादानों का विवेचन नाट्यशास्त्र में विस्तृत रूप में किया है।

ताल पद्धति से तात्पर्य यह होता है कि, तालव्याख्या, तालगठन के नियम, तालग्रह, निश्चित पाठाक्षर, सशब्द निशब्द क्रिया, ताल प्रस्तुति, तालविस्तार आदि का विवेचन।

नाट्यशास्त्र के आधार पर ताल पद्धति

नाट्यशास्त्र में ताल की परिभाषा इस प्रकार की है —

‘कला, पाठ और लय से युक्त जो कालविभाग या परिमाणरत्मक प्रमाण जो घन वाद्य बग में जाता है, ताल कहलाना है।’

साधारण व्यवहार के काल, निमेष या पल के परिमाण को ताल प्रमण में कला नहीं कहा जाता। 3 निमेष काल को मात्रा कहते हैं तथा एक मात्रा से या मात्राओं के योग से बने गान समय को कला कहा है। मात्राओं के तीन स्वरूप बताये हैं—सधु गुरु और प्लुत। लय के तीन प्रकार बताये हैं—मध्य तथा विलंबित। मध्यलय के प्रम पात्रुसार कलाका मान शाठ होता है। ताल लक्षणों के अनुसार मात्रा काल ही वाद्य के दोषक से। (श्रावण काल में प्रवेश या छत्र गायन होता था) इन गीतों में (गीत को म) कहा कहा पात्र ही इस आधार पर ही पाठ का काल

निश्चित किया जाता था और उसी अनुसार तालवादन होता था। एक मात्रिक काल (कला) को लघु द्विमात्रिक काल (कला) को गुरु तथा तीन मात्रिक काल (कला) को प्लत कहा जाता था। प्राचीन काल में गायन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति करना था।

कला के आधार पर ही भरत ने पांच मुख्य तालों की रचना की थी। ये पांच ताल निम्नानुसार हैं —

- 1 चच्चत्पुट
- 2 चाचपुट
- 3 पटपितापुत्रक
- 4 सप्तकोष्क
- 5 उदपट्ट

तालों के दो भेद बताये हैं, चतुरस्र तथा त्रयस्र। इन दोनों की प्रकृति समान मानी है। मुख्य दो ताल बताये हैं। चच्चत्पुट (चतुरस्र जाति) तथा चाचपुट (त्रयस्र जाति)। हा यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन तालों के नामों के उच्चारण के अनुसार उनकी कला एक मात्रा होती है। इन तालों के वि. लघु, गुरु तथा प्लत के चिह्नो द्वारा बताये गये हैं। इस आधार पर :—

चच्चत्पुट के चिह्न होंग— s s i s

चाचपुट के चिह्न होंग— s i i s

इन तालों की क्रमशः चतुरस्र तथा त्रयस्र ताल भी कहा है।

इन दोनों तालों के मिश्रण से मिश्रतान की व्युत्पत्ती बताई है, जिनमे पटपितापुत्रक या पञ्चपाणि ताल बताया है। मुख्य रूप से ताल के यही तान भेद बताये हैं (31/13 18)। यहाँ हम समझ सकते हैं कि मिश्र ताल और भी बन सकते हैं।

माग — (यानि कला की रीति) 3 प्रकार की बताई है (धव माग एक मात्रिक कला का होने के कारण उन्मत्त नहीं किया है। (जिसमे प्रत्येक मात्रा पर घात होता है)।

- | | | | | |
|---------------|---|---|---|---|
| 1 चित्र माग | — | 2 | — | मात्रिक कला (पहली मात्रा पर घात दूसरी मात्रा बिना घात के) |
| 2 वार्तिक माग | — | 4 | — | मात्रिक कला (पहली पर घात शेष तीनों बिना आघात के) |
| 3 दक्षिण माग | — | 8 | — | मात्रिक कला (पहली मात्रा पर घात शेष मात्रा बिना आघात के) |

धवमाग — ताल चाचपट = s s i s 1/2/3/4/5,6 = 6 मात्रा

चित्रमाग — , , , 2/2/2/2/2 2 = 12 मात्रा

वार्तिक माग — , , , 4/4/4/4/4,4 = 24 मात्रा

दक्षिण माग — , , , 8/8/8/8/8,8 = 48 मात्रा

इस प्रकार माग के अनुसार ताल को लय में घात करने की रीति स्पष्ट होती है। (ताल को शायद पर ताली (सशब्द क्रिया), खाली (निःशब्द)

क्रिया) द्वारा प्रदर्शित किया जाता था। अलग अलग तालों के लिए निश्चित क्रियाएँ भारत ने बताई हैं।

क्रिया—के मुख्य दो भेद बताये हैं (1) सशब्द (2) निशब्द।

(1) सशब्द क्रियाएँ —

(अ) धवा—अगुठ तथा मध्यमा से चुटकी देते हुए हाथ नीचे लाना।

(ब) शम्या—दाहिने हाथ से बाये हाथ पर ताली देना।

(स) ताल—बाये हाथ से दाहिने हाथ पर ताली देना।

(द) सन्निपात—दोनों हाथों से बराबर ताली देना।

(2) निशब्द क्रियाएँ —

(अ) आवाज—हाथ ऊपर उठाकर अगुलियों को सिकोड़ना।

(ब) निष्काम—नीचे की ओर अगुलियों को फलाना।

(स) विशेष—उठे हुए हाथ की फँसी अगुलियों को दायी ओर गिराना।

(द) प्रवेशक—अगुलियों को झुकाकर सिकोड़ लेना।

वर्तमान काल में जिस प्रकार ताल के भागों की ताली एत्र खाली द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, भारत ने ताल के भागों को क्रिया द्वारा (सशब्द अथवा निशब्द) प्रदर्शित करने के लिए प्रत्येक भाग में निश्चित क्रिया के प्रथम अक्षर को लिखकर शास्त्र के रूप में तथा वास्तविक क्रिया द्वारा प्रायोगिक रूप में प्रदर्शित करने का उल्लेख किया है।

उद — मार्गी ताल चञ्चत्पुट ।

5	8	1	8	= चिह्न
2,	2	1,	3	= 8 मात्रा
स	स	ता	स	= क्रियाएँ
	शम्या		शम्या	

सन्निपात ताल

त्रियानुसार चञ्चत्पुट के 3 भेद बताये हैं।

ताल चञ्चत्पुट

सन्निपातादि— सन्निपात शम्या ताल शम्या।

शम्यादि — शम्या ताल शम्या ताल।

तालदि — ताल शम्या ताल शम्या।

अग—(तालनामों के सपाक्षर के अनुसार सप्त गुरु या प्लुत आदि मात्राओं को अग कहते थे। जितने अग होते थे वे ही तालके भाग होते थे। ताल छोटे को सप्त, गुरु या प्लुत चिह्नो द्वारा दिखाया जाता था। सप्त=1 मात्राकाल, गुरु=2 मात्राकाल तथा प्लुत=3 मात्राकाल का होता था। बिंदु के अनुसार ही मात्राएँ जानी जाती थी।

यति—(ऊपर वर्णित) लय की प्रवृत्ति के नियम को ही यति कहेंगे। सम स्थातागता तथा गोचुच्छा 3 यतियाँ बनाई हैं। आरम्भ, मध्य व अन्त में एक जल्य होने पर समायति। आरम्भ में विनयित, मध्य में मध्य तथा अन्त में दत्त होने पर स्त्रोतोयता, (स्त्रोतोयता के अर्थ दो भेद दो लयों से भी बनते हैं जम प्रय विलम्बित मध्य, द्वितीय मध्य, दत्त) तीसरी प्रमत्त दूत मध्य तथा विलम्बित द पर गोचुच्छा यति होगी। इसके भी 2 म य भेद होंगे। क्रमशः मध्य विलम्बित व दन मध्य लय होने से ये दो भेद होंगे।

प्रस्तार—भरत ने अवनद्ध याछी क वादन को घवाआ के अनुसार बना है। शुक, पाणिना गाथा, गीत जो विविध छंदों से निर्मित हो घवा रूप प्राप्त हैं थे। घवा के वाक्यगत शब्दों में वण, अलकार, लय, यति और पाणि निश्चित हैं में एक दूसरे से स्थिर संबंध रखते थे। गीतों में जिन्हें अर्गों और कलाओं को र जाता था वे ही घवाओं में छंद और वृत्त के रूप में प्रगट होते थे। घवाओं में म स्त्र और चतुरस्त्र ताले रहती थीं। निश्चित अक्षरों से पूर्य, नियत यति हो छंदयुक्त ही उसी गीत में ताल वादन बताया है।

छंद के अनुसार ताल वादन होता था

प्रस्तार इस शब्द का अर्थ तालका विस्तार है। ताल की भिन्न भिन्न रीति से प्रस्तारित किया जाता था। तालों की भिन्न भिन्न रीतियों से प्रस्तुत करते छंद तालका मूल स्वरूप जैसे अंग, त्रियाण, माग कला मात्रा एवं गति परिवर्तित हो रहती थी। कभी त्रियाओं में, कभी अर्गों में परिवर्तन करके इनका वादन होता था कभी पूर्य गुरु रूप में, कभी पूर्य लघु रूप में, और कभी लघु गुरु के मध्मित रूप विस्तार किया जाता था।

जस -त्रियाओं के परिवर्तन से विस्तार—

चच्चत्पुट— s s । ६
 स स ता स
 चच्चत्पुट— दो आवतन युक्त परिवर्तित क्रिया स्वरूप
 s s । ६ s s । ६'
 स ता स ता ता स ता स

इसी प्रकार द्विकल चतुष्कल करक भी विस्तार किया जाता था।

पाँच मार्गों ताल एवं उनके भेद (मुद्यय)

(1) चच्चत्पुट—

यथाक्षर— s s । ६

स स ता स

द्विकल— s s s s s s s s

नि स नि ता स प्र नि स

चतुष्कल— १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
 आ नि वि श, आ नि वि ता, आ श वि प्र आ नि वि स

(2) चाचुपट—

यथाक्षर— १ १ १ १
 श ता श ता

द्विकल— १ १ १ १ १ १
 नि श ता श वि स

चतुष्कल— १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
 आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि स

(3) षटपितापत्रक—

यथाक्षर— १ १ १ १ १ १ १ १
 स ता श ता श ता

द्विकल— १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
 नि प्र ता श नि ता वि श ता प्र नि स

चतुष्कल— १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
 आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श
 १ १ १ १ १ १ १ १ १ १
 आ ता वि प्र आ नि वि स

(4) सपकॅण्टाक—

यथाक्षर— १ १ १ १ १ १
 ता श ता श ता

द्विकल—

चतुष्कल—] सपकॅण्टाक को षटपिता पत्रक के समान जानिये ।

(5) उदघट्ट—

यथाक्षर— १ १ १
 नि श श

द्विकल—

चतुष्कल—] " चाचुपट के समान जानिये ।

भरत ने अवनद्ध शब्दों के वादन को ध्रुवाओं के अनुसार बताया है । ऋच, पाजिका, गाय, गीत जो विविध छंदों से निमित्त हो उन्हे ध्रुवा रूप प्राप्त होते थे । ध्रुवा के वाक्यगत शब्दों में वण, अलकार, लय, यति, और पाणि निश्चित रूप में एक दूसरे से स्थिर संबंध रखते थे । गीतों में जिन अंगों और कलाओं को रखा जाता था वे ही ध्रुवाओं में छंद और वृत्त के रूप में प्रगट होते थे । ध्रुवाओं में त्रय स्वर और चतुरस्र ताल रहनी थी । निश्चित अक्षरों से पूण हो, नियत यति हो तथा उच्युक्त ही उही गीत में ताल बानन बताया है ।

एक के अनुसार ताल बान्त होता था—

- (1) सभी गुरु अक्षरों वाला—ईत दब तर यत् ।
- (2) तीन अक्षरों के पाद में चतुर्वचन सप्तु—
एकद्वय दूल्भन् पातु मां सोदृष्टम् ।
- (3) तीन अक्षरों के पाद में क्षान्ति वर्ग सप्तु—उमेद्य गुरेऽत्र त्रयाणु पातु ।
- (4) तीन अक्षरों के पाद में दो सप्तु और एक गुरु प्रथम से हो—
अधिक बिरहे गन्तो दहति ।
- (5) चार अक्षरों के पाद में दूसरा अण सप्तु—
वाति वात पुष्पवाहा ।
- (6) चार अक्षरों के पाद में तीसरा तथा चौथा सप्तु—
ईदशक उरस्रित आहिङ्गति हृसीवणु ।
- (7) चार अक्षरों के पाद में प्रथम दो वचन सप्तु अन्तिम दो वर्ण गुरु—
वनघञ् अतिभक्त वभ हृष्टो परिद्विप्त ।

इसी प्रकार पांच, छह, आदि अक्षरों से निर्मित सप्तु गुरु की भिन्नता के आधार पर बने छहों एभ घञाओ के साथ युग्म, अयुग्म मिश्र प्रकारों के तालों का बान्त होता था। इन घञाओ में छहों के अनुसार पादभाग तथा कुन मात्रा सप्तु के आधार पर ताल निश्चित किया जाता था।

यदि वर्तमान भातखण्डे तालपद्धति को ध्यान में रखकर हम भारत के तालसिद्धि को देखें तो सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार होगा—

(1) वर्तमान में तालों की संख्या निश्चित नहीं है तथा यह भी निश्चित नहीं है कि शास्त्रीय संगीत में कितने ताल प्रयुक्त होंगे। भारत में मानीं संगीत के लिए निश्चित पांच ताल बनाये हैं।

(2) वर्तमान में तालों की मात्रा अवन (12, 16) आदि द्वारा प्रकट की जाती है। भारत में तालों की मात्राएँ अवन द्वारा नहीं बटाईं बरन उषे ताल के लड़ों के लघु गुरु, स्तुत चिह्नों द्वारा जाना जाता था—

जसे—चञ्चस्पृट = ३ ३ १ ३' = 2, 2, 1, 3 = 8 मात्रा

(3) तालों के विभाग उतने ही होते थे जितने चिह्न हों—

जसे—चञ्चस्पृट के ३ ३ १ ३' चार भाग।

वर्तमान के अनुसार विभाग (खंड) दर्शाने के लिए प्रयुक्त खड़ी लकीर का कोई उपयोग नहीं होता था।

(4) वर्तमान भातखण्डे ताल लिपि में खंड या विभाग की पहली मात्रा के नीचे तालों के लिए 2, 3, 4, 5 आदि अको का, सम (पहली वाली) के लिए X चिह्न है

का तथा खाली के लिए '0' चिह्न का उपयोग किया जाता है किंतु भरत ने इस प्रकार के कोई चिह्नों का प्रयोग नहीं किया है। भरत ने इन (ताली, खाली) के भागों को दगाने के लिये सघ० और निश० त्रियाओं के नामों के प्रथम अक्षर को लिखकर ताली और खाली को बताया है। (सघ० और निश० त्रियायें पूर्व में बताई गई हैं)।

उद — भागों ताल चञ्चल्यु, मात्रा—8, भाग—4, ताली—4, खाली—X
एक भाग न क्रम से 2, 2, 1, 3, मात्राएँ

४	४	१	३	—	चिह्न
गुरु,	गुरु,	लघु,	प्लुन	—	चिह्न नाम
2	2	1	3	—	मात्रा 8
स	श	सा	शे		
सन्निपात	सम्प्रा	तात्	सम्प्रा		

(4) वर्तमान भातखंडे तालत्रिणि म तालों के निश्चित ठेके होते हैं। भरत ने तालों के कोई ठेके नहीं बताये हैं।

(5) वर्तमान ताल पद्धति में कुछ निश्चित पाठवण माने जाते हैं, यद्यपि उनकी सख्या के बारे में संचारिक मतभेद है।

भरत ने निम्न 16 पाठवण पुंकर (मृग) के लिए बताया है —

क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ढ, त, थ, द, ध, म, र, ल, ह।

(6) वर्तमान म तबले के दाहिने बाये पर या पञ्चावज (मृदंग) के दाहिने बाये मुख पर निश्चित पाठवण निकालने के नियम हैं। उसी अनुसार भरत ने पुंकर के गार्किक मृदंग के दाहिने मुख पर क, ट, त, र ठ द, घ, बाये मुख पर ग, ह, और दोर घ। उच्चक मृग के मुख पर घ। गालिय मृदंग के मुख पर, क, र, ण, घ, व, ल ये षण निकाले जाना बताया है।

(7) वर्तमान पाठवणों के व्यञ्जनों में स्वर संयोग से उत्पन्न अक्षरों के अनुसार भरत ने भी व्यञ्जन स्वर संयोग (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अ, इन स्वरों द्वारा) बताया है।

(8) वर्तमान सयुक्त व्यञ्जनों (वर्णों) वृह, व्रादि के समान भरते भी बल, व, ध, आदि षण बताये हैं।

(9) वर्तमान म तबला या पञ्चावज पर वर्णों को निकालने की एक निश्चित क्रिया होती है जिसे हम धादन संज्ञा भी कह सकते हैं। भरत ने पञ्चावज प्रवृत्त के अनुसार इसको स्पष्ट किया है।

भरत ने 4 माग बताये है जिनके अनुसार पुष्पक के तीनों मन्था म प्रयुक्त प्रयुक्त उपयोग (प्रहार) द्वारा या संयुक्त प्रहारों द्वारा द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक चतुर्मात्रिक, पंचमात्रिक, षट्मात्रिक बोलसमूह बताये है ।

(10) वर्तमान तालों के वादन (विस्तार) म प्रयुक्त, कायना, पलकार, परन टुकड़े आदि प्रकार की बि ही वदियों का उल्लेख भरत ने नहीं किया है । उसने ध्रुवाओं, छन्दों के अनुसार वादन बताया है । इसमें निश्चित बोल बजाने का बदन नहीं था । वदन था तो मात्रिक छन्दों ओर वाणिक छन्दों के अनुसार वादन का ।



‘संगीत-रत्नाकर’ पर आधारित देशी ताल पद्धति

भरत के समय तक संगीत वैदिक ब्राह्मणोक्तक सीमित था। भरत ने सबसे प्रथम नाट्य के प्रयोग के सांगितिक मायन, वाचन नृत्य तीनों विधाओं को उपयोग में लाया। सायद तभी से संगीत का जन जन में प्रचार एवं प्रसार प्रारम्भ हुआ होगा। गुप्तकाल (ई स 320 से 600) में 5वीं सदी के लगभग कालिदास ने अपने ग्रंथों में (जो संगीत ग्रंथ नहीं थे) सांगितिक शब्दों का प्रयोग किया है। विक्रमोबशी नाटक में द्रुपद, चचरी, गीति (प्रबं ध) का नाम चचरीताल के नामकरण से प्रमाणित होना है। विष्णुगर्भ कृत पंचतंत्र की कहानियों में सांगितिक उपादानों का उल्लेख है। हयवधन काल (600-650 ई स) में महाकवि बाणभट्ट ने कई हीगीतमय रचनाओं का निर्माण किया। इसके बाद के काल (8 वीं से 10वीं सदी) में भारतवर्ष में छोटे छोटे राज्य बने एवं इस कारण संगीत का विकास अवरोध हो गया। (11वीं सदी के पूर्व से ही भारत पर मुस्लिम आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। मुस्लिमों के आगमन के साथ ही प्राचीन भारतीय सांगीत पतनोन्मुख होता चला गया। अब संगीत जन जन के साथ मंदिरों, मठों तथा नौकी तौर पर फलता फूलता रहा था।)

(हमने देखा कि भरत के बाद के काल में संगीत का जन जन में प्रचार होना लगा था। पचासि भरत के बाद पारसिकों के काल तक क सभी प्रायकारों ने भरत मत का पालन किया तथापि उसमें देशी के रूप में परिवर्तन होना लगा। 'नदिके दवर ने' भरत मत से हटकर नृत, नद्यु, गुरु, प्लुत एवं काकपद इन मात्रिक काल प्रमाणों को अपने प्राय 'भरताणव' में ताल धम के रूप में उन्मूलित किया है। उसी प्रकार कुछ तानों के श्लोक भी दिए हैं। नारदवृत 'संगीत मकरद' ग्रंथ में मार्गी एवं शैली ऐसे कुल 101 तानों की परिभाषा की गई है। दक्षिण मत में, कोहल ममितवगुप्त, परमर्षी नागदेव आदि प्रायकारों ने प्रथम लिखे थे एसा अन्य प्रायकारों के ग्रंथों में उनके मत का प्रतिपादन किये जाने से सिद्ध होना है। इनमें से कुछ प्रायकारों के प्रथम पूर्ण अर्थपूर्ण रूप में उपलब्ध हैं तथा कुछ के नहीं। इस कालकी राजनितिक स्थिति, सोरहचि, सस्कृति पर प्रहार, आदि कारणों से संगीत पर इनका प्रभाव होना स्वाभाविक था। मार्गी के साथ देगो तालों का महत्व बढ़ना लगा। तानों का निर्माण होना, पाटासर निकासने की शैली का विकास तलो क घोली का वाचन, लोह अवनद्ध याघो का महत्व एवं उनका वादन तानि तानों -

स्पष्ट होता है कि शास्त्रीय संगीत का प्रभाव कम होने लगा था। इन सारी बातों का परिणाम ही शायद दारगदेव वृत्त 'संगीत रत्नाकर' था।

दारगदेव रचित 'संगीत रत्नाकर' ग्रन्थ भरत के प्राचीन नाटयशास्त्र ग्रन्थ समान मध्ययुग का सर्वश्रेष्ठ संगीत ग्रन्थ कहा जाता है। दारगदेव का काल 13 वीं सदी माना जाता है। दारगदेव को शायद यह आभास हीन लगा था कि प्राचीन संगीत मर्तों का लोप न हो जाय, इसी कारण (उनके स्वयं के उत्तरानुसार) इन्होंने देव भ्रमण करके संगीत के विद्वानों में उनके मत एकत्र किं उसी प्रकार भरत से लेकर अपने पूज्य के सभी प्रकारों के ग्रन्थों का अध्ययन अपने संगीत ग्रन्थ 'संगीतरत्नाकर' की रचना की। इस ग्रन्थ में उन्होंने भरत कुछ मर्तों का (मार्गीताल) वर्णन तो किया ही है साथ ही लोकलुचि को ध्यान रखकर देशी संगीत, देशी ताल एवं अवनद्ध वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है।

'संगीत रत्नाकर' के कुल 6 अध्याय हैं जिनमें पाँचवा अध्याय तालाध्याय तथा छठा अध्याय वाद्याध्याय है। तालाध्याय के प्रारम्भ में ही उन्होंने तालकी याद करते हुए लिखा है —

(तालस्तल प्रतिष्ठायामिति घातोघनिभ्रमत ।

गीत वाद्य तथा नृत्य यतस्ताले प्रतिष्ठितम् ॥)

स्थिरता से स्थापित होने वाले ताल घातु में 'अ' प्रत्यय लगाकर ताल की व्युत्पत्ति हुई है। गायन वादन तथा नृत्य को ताल से ही स्थिरता प्राप्त होती है। लघु आदि प्रमाण की क्रियाओं द्वारा मापा जाने वाला और गीतादि के परिमाण को धारण करने वाला ताल ही होता है।

तालों के दो भेद बताये हैं, मार्गी एवं देशी। उन्होंने भी भरत के समान घोषित करते हुए मार्गी तालों का तथा दश प्राणों का उल्लेख किया है।

यथा —

काल—मात्रा प्रमाण यह ताल का समय (काल) मापक होता है। एक मात्रा काल 5 निमेष काल के बराबर होता है।

भाग—भरत के समान ही भाग बताये हैं। मार्गी में प्रयुक्त 8 मात्राओं में ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता विसिप्ता, पताका, पतिता, वाम दिग्दि है।

क्रिया—भरत के समान ही संशुद्ध तथा निश्चल क्रियाएँ बताई हैं।

अंग—तालनामों के यथानुसार अंग लघु, गुरु, प्लुत आदि को अंग कहा है।

ग्रह—भरत के समान ही समवाणि (समग्रह), अववाणि (अतीत) और उपरिवाणी (अनागत) ये ग्रह बताये हैं।

जाति भरत के समान ही मार्गी तालों की मुख्य 2 जोतिया प्रयत्न तथा पुरस्न बनाई है। युग्म (चच्चट्टुट) के 3 तथा अयुग्म (चाचट्टुट) के 6 भेद (कार) बताये हैं। इन दोनों के मिश्रण से मिथ्य व सक्तीय भेद बताये हैं।

धना—दारगदेव ने नि गन्द क्रिया को भी कला कहा है। (अध्याय 5/श्लोक) तथापि भरत के अनुसार ही यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल इष प्रकार कला प्रमाण र तालों के भेद बताये हैं। सगन्द क्रिया की पात तथा कला दोनों रूप में उल्लेखित किया है। युग्म और अयुग्म के कला प्रमाण के आधार पर भेद बनाये हैं।

लय—क्रिया के बाद की विधाति ही लय होती है। (अर्थात् दो मात्राओं के बीच का काल ही लय बताता है) लय 3 प्रकार की द्रुत, मध्य व विलंबित बताई है।

यति—लय प्रयोग के नियमों को यति कहते हैं (6/47) यति 3 प्रकार की यमा, स्प्रोतायता तथा गौपुसठा बताई है।

प्रस्तार—मार्गी तालों के प्रस्तार भरत समान ही बताये हैं।

देशी ताल प्रकरण

दारगदेव ने देशी की व्याख्या करते हुए कहा है कि देश देग के (प्रात अथवा राज्य के) जन जन में प्रयुक्त रुचि पूर्ण एवं मनकी माने वाले लोक प्रिय गायन, वादन व नृत्य देशी कहे जाते हैं। विभिन्न जाति, संप्रदाय आदि में व्याप्त संगीत देशी संगीत कहा है।

यहां यह ध्यान देना आवश्यक है कि मुगलों के आक्रमण तथा भारत में छोटे छोटे राज्यों के आपसी मतभेदों के कारण प्राचीन संगीत भी बिखर गया था। इसी कारण प्रत्येक राज्य में लोगों के रुचिनुसार गायन वादन तथा नृत्य का प्रसार होता गया। हम कह सकते हैं कि साम्प्रदायिक संगीत के स्थान पर लोक संगीत, लोक वाद्य एवं छोटे तालों का महत्व जादा बढ़ गया था। दारगदेव ने अलग अलग राज्यों में घूम घूमकर कला व गुणजनों से अलग अलग प्रकार के गायन, वादन, नृत्य और तालों का अध्ययन किया तथा उसी आधार पर 120 देशी तालों की रचना की।

तालों की रचना के लिए त्रिविध विही की आवश्यकता महसूस हुई। दारग देव ने दन—1/2 मात्राकाल लघु—1 मात्राकाल, गुरु—दो मात्राकाल प्लुत—3 मात्राकाल इस प्रकार चिह्न बताये। इसके अतिरिक्त, विराम चिह्न भी बताया। इस चिह्न का प्रयोग ताल की आखिरी मात्रा पर ही होता था तथा जब इसका प्रयोग होता था तब वह मात्रिक चिह्न के डेढ़ गुने मात्रिक काल का समाना जाता था। चिह्न इस प्रकार माने —

दन = 0, लघु = 1, गुरु = 2, प्लुत = 3, विराम = — ।

विराम का उदाहरण —

अन 0 0 0 — = यहाँ अंतिम चिह्न पर विराम चिह्न बताया गया है तो

अंतिम दल के बाद 1/4 मात्रिक काल का विच्छेद हीगा (विराम को तालका अथवा नहीं समझना चाहिए। कल्लिनाथ ने भी बताया है)

शारंगदेव ने 120 तालों के अलावा अष्टताल भी निर्माण होना समझ बना है किंतु लगभग में (यहां लगभग का अर्थ शारंगदेव का दशो तालों का शोधन समझिये) ये ताल प्रचार में न होने के कारण इनका शास्त्र में उल्लेख नहीं है। 120 तालों को और उनके भेदों को जानने के लिए 19 प्रत्यय (नियम) बताए हैं।

19 प्रत्यय इस प्रकार हैं—

(1) प्रस्तार (2) सध्या (3) नष्ट (4) उद्दिष्ट (5) पातालक (6) दत्तमे (7) लघुमेरु (8) गुरुमेरु (9) प्लुतमेरु (10) समोगमेरु (11) खड्गस्तार (12) लघुमेरु नष्ट (13) लघुमेरु उद्दिष्ट (14) दत्तमेरु नष्ट (15) दत्तमेरु उद्दिष्ट (16) गुरुमेरु नष्ट (17) गुरु मेरु उद्दिष्ट (18) प्लुतमेरु नष्ट (19) प्लुतमेरु उद्दिष्ट

अब प्रत्येक प्रत्यय का वर्णन इस प्रकार होगा—

(1) प्रस्तार—ताल का प्रस्तार उनके चिह्न के द्वारा किया जाता है। कोई भी ताल लेकर उस ताल के चिह्न में प्रथम चिह्न को विस्तारित करेंगे (यह चिह्न का विस्तार नहीं होगा) तो वह तालका एक भेद होगा। इस प्रकार प्रथम चिह्न का प्रस्तारित करने पर एक ही ताल के अनेक भेद हो सकन हैं। जब कोई ताल जिससे चिह्न दो गुरु होंगे तो उसका प्रस्तार इस प्रकार होगा—

	5	==	4 मात्रा
11	11	==	4 मात्रा
0 0 1	0 0 1	==	4 मात्रा
0 1 0	0 1 0	==	4 मात्रा
1 0 0	1 0 0	==	4 मात्रा
0 0 0 0	0 0 0 0	==	4 मात्रा

अब यदि प्रथम चिह्न का एक प्रस्तार के साथ दूसरे चिह्न के 6 प्रस्तार जोड़ेंगे तो $6 \times 6 = 36$ प्रस्तार एक ही ताल के होंगे तथा मात्रा 4 ही रहने।

कलानिधि व सुधाकर टीका के अनुसार केवल लघु केवल गुरु, केवल प्लुत के प्रस्तार देखिये—

लघु प्रस्तार—		गुरु प्रस्तार—	
1	(1)	5	(1)
0 0	(2)	1 1	(2)
		0 0 1	(3)
		0 0 1	(4)
		1 0 0	(5)
		0 0 0 0	(6)

प्लुत प्रस्तार—

5	(1)	0 1 1 0	(11)
5	(2)	1 0 1 0	(12)
0 0 5	(3)	0 0 0 1 0	(13)
5 1	(4)	5 0 0	(14)
1 1 1	(5)	1 1 0 0	(15)
0 0 1 1	(6)	0 0 1 0 0	(16)
0 1 0 1	(7)	0 1 0 0 0	(17)
1 0 0 1	(8)	1 0 0 0 0	(18)
0 0 0 0 1	(9)	0 0 0 0 0 0	(19)
0 5 0	(10)		

इस प्रकार लघु के कुल दो, गुरु के कुल 6 तथा प्लुत के कुल 19 प्रस्तार होंगे। इन प्रस्तार के आधार पर एक ही ताल के अनेक भेद निर्माण हो सकते हैं।

(2) सख्या — 1 | 2 | 3 | 6 | 10 | 19 | 33 |

सख्या इस गणितीय प्रत्यय द्वारा लघु गुरु, तथा प्लुत के प्रस्तारों के अंत में दश, लघु, तथा गुरु के कितने प्रस्तार होंगे इनकी सख्या ज्ञात की जा सकती है।

सब प्रथम 1, 2 इन अंकों को क्रम से लिखें। इसके बाद प्राप्त अंतिम सख्या 2 की बायीं ओर की 2 री, 4 यी 6ठी सख्या जाड़कर आगे लिखत चले।

(4 यी के अभाव में 3 री तथा 6 ठी के अभाव में 5 यी सख्या को जोड़ें) 2 की दूसरी बायीं ओर की सख्या 1 मिलाकर $(2+1=3)$ 3 सख्या 2 के आगे लिखें। इस प्रकार 1, 2, 3, ये सख्याएँ प्राप्त हुईं। अब 3 की बायीं ओर दूसरी सख्या 2 तथा चौथी सख्या के अभाव में 3 री सख्या एक का जोड़ करे $(3+2+1=6)$ जोड़ 6, 3 सख्या के आगे लिखें। इस प्रकार क्रम से 1, 2, 3, 6 सख्याएँ प्राप्त होंगी। अब — 6 के बायीं ओर की दूसरी सख्या 3 तथा चौथी सख्या 1, 6 में जोड़कर $(6+3+1=10)$ 10 सख्या प्राप्त होगी वह 6 के आगे लिखें अब 10 के बायीं ओर की दूसरी सख्या 6 + चौथी सख्या 2 + छठी के अभाव में पाचवीं सख्या 1 को 10 में जोड़कर $(10+6+2+1=19)$ प्राप्त 19 यह सख्या 10 के आगे लिखें।

अब 19 के बायीं ओर की दूसरी सख्या 10 + चौथी सख्या 3 + छठी सख्या 1 को 19 में जोड़कर $(19+10+3+1=33)$ प्राप्त 33 सख्या लिखें।

इन प्राप्त सख्याओं की दृष्ट धानि आधी मात्रा के अनुसार विभाजित कर लें —

सख्या—	<u>1 2 3 6 10 19 33 </u>						
मात्राकाल—	$\frac{1}{2}$	1	$1\frac{1}{2}$	2	$2\frac{1}{2}$	3	
विश्व —	दा	दा	दा	दा	दा	दा	
	दश	लघु	गुरु	गुरु	गुरु	प्लुत	
	0	1	2	3	4	5	

इस ध्येनी से हम जान सकते हैं कि लघु प्रस्तार के अंत में 2 बिंदु या प्रस्तार 2 होंगे, गुरु के प्रस्तार के अंत में दूत बिंदु या प्रस्तार 3 होंगे तथा अंत में लघु वाले प्रस्तार 2 होंगे। प्लुत के प्रस्तार के अंत में दूत या 10, अंत में लघु वाले 6, तथा अंत में गुरु वाले 3 प्रस्तार होंगे।

(3) नष्ट — लघु गुरु अथवा प्लुत के प्रस्तारों में से निश्चित क्रिषी प्रकार के नम्बर का प्रस्तार कौन सा ? यह नष्ट हुआ। अर्थात् प्रस्तार के निश्चित नम्बर के आधार पर कौन सा स्वल्प होगा यह जानने की विधि 'नष्ट' है।

(4) उद्दिष्ट — जब लघु अथवा प्रस्तारों में कोई बिंदु बताकर पूछा जाए कि यह कौन से नम्बर का प्रस्तार है तो यह उद्दिष्ट होगा।

उद — 1, 100, यह प्लुत के प्रस्तार में आता है। इसलिये प्लुत के प्रस्तार सख्या 19 तक 1, 2, 3, 6, 10, 19 — इस प्रकार लिख लें। अंतिम दो दन होने से 10 और 6 से प्राप्ती नहीं होती। बाद में दूसरे लघु द्वारा 3 अंक प्राप्त हुआ। प्रथम लघु से 2 अंक प्राप्त हुआ। 2 सांतर पतित है, अतः 3 म से 2 घटाने पर 1 प्राप्त होगा। पूरु म प्राप्ति 3 म (घटाने पर) प्राप्ति। जोड़ने पर 4 सख्या प्राप्त हुई। पूरु प्रस्तार सख्या 19 में से प्राप्ति 4 सख्या घटाने पर 15 तक प्राप्ति हुआ। अर्थात् यह प्लुत का 15 नम्बर का प्रस्तार होगा।

(5) पाताल — लघु, गुरु एवं प्लुत के प्रत्येकी के प्रस्तारों में कुल कितने कितने दूत होंगे यह जानना पाल होता है।

1	2	3	6	10	19
1/2	1	1 1/2	2	2 1/2	3
दूत	लघु		गुरु		प्लुत
1	2	5	10	22	44

सबप्रथम पहले खाने में (दत्त के नीचे) 1 लिखेंगे तथा दूसरे खाने में दो लिखेंगे। तीसरे खाने में (दो नम्बर के दोनों खाना के 2+2 तथा पहले खाने का 1) (2+2+1)=5 लिखेंगे। उसके बाद तीसरे खाने के 3+5 में दूसरे खाने के 2 जोड़ने (5+3+2=10) प्राप्त सख्या चौथे खाने में लिखेंगे। इस बाद ऊपरी चौथे खाने के 6+नीचे चौथे खाने के 10+5 (दस के पहला अंक) तथा बायी ओर का चौथा नम्बर का अंक 1 जो देंगे इस प्रकार 6+10+5+1=22 यह अंक प्राप्त होगा जो पाँचवें खाने में लिखेंगे। इसके बाद ऊपरी 5वें खाने के 10+नीचे के पाँचवें खाने के 22+बाएँ के पूर्ण का अंक 10+बाईस से बायी ओर का चौथा अंक 2 जोड़कर (10+22+10+2=44) प्राप्त 44 अंक छठे खाने में लिखेंगे। इस प्रकार हम लघु प्रस्तार में कुल दत्त सख्या 2 गुरु प्रस्तार में कुल दत्त सख्या 10 तथा प्लुत प्रस्तार में कुल दूत सख्या 44 प्राप्त होगी।

रत्नाकर काल से वर्तमान काल तक ताल पद्धति का विकास एवं इतिहास

(कर्नाटकी एवं उत्तर भारतीय ताल पद्धति)

ताल पद्धति, गललिपी पद्धति अथवा तालांकन पद्धति से तात्पर्य यह होता है कि ताल में लगने वाले समय का मापन मापन के लिये मापक इकाई, रचना सिद्धांत, ताल का स्वरूप स्वरूप को लिखित रूप में प्रस्तुत करने के लिये अथवा बिंदु, गठन की प्रक्रिया (त्रिया) मापक गण ग्रह, जाति लय यति, प्रस्ता पाठवण, पाठाक्षर, टका विभाग आदि का वर्णन। इन सबको लिखित रूप प्रस्तुत करना ही तालांकन पद्धति कहलाती है।

शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में ताल की परिभाषा इस प्रकार की है "तल धातु से उत्पन्न होने वाला, गीत वाद्य नृत्य को स्थिरता प्रदान कर वाला, लघु इत्यादि मापक त्रियाओं से मापा जाने वाला तथा गीत वाद्य और नृत्य को परिमाण धारण कराने वाला काल ही ताल है।" उन्होंने प्राचीन मार्गी एवं स्वनिर्मित देशी ऐसे तालों के भेद बताये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन (भारतवासी) तथा शारंगदेव कालीन ताल एवं ताल पद्धति में अंतर था।

शारंगदेव द्वारा दी गई ताल की परिभाषा स्पष्ट है एवं यह वर्तमान काल में भी मान्य है। प्राचीन एवं वर्तमान तालों में, तथा ताल पद्धतियों में बहुत अंतर दिखाई देता है। इसके कई कारण हो सकते हैं। जैसे—मध्ययुग की सामाजिक स्थिति, ऐतिहासिक स्थिति, अभिवृद्धि में बदलाव, संगीत में बदलाव आदि। ऐसा कहते हैं कि समय परिवर्तनशील होता है एवं इसका असर मानव जीवन के हर पहलू पर पड़ता है। फिर संगीत इससे अछूना क्या रह सकता है। प्राचीन ताल पद्धति में बदलाव आने का सबसे बड़ा कारण उसकी जटिलता निश्चित तालों में उसका ठीक न होना आदि ही सकते हैं। वर्तमान कुछ ताल पद्धतियों में, ताल, ताल निर्माण के सिद्धांत आदि प्राचीन तालों के समान पूर्णरूप से पाश्चात्त्य न हो तब भी सरल होने से उनका प्रचार में आना अवश्यभावी था।

शारंगदेव का जीवन काल 13 वीं सदी माना जाता है। मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण तथा भारतीय राज्यों और राजाओं के पतन के कारण हमारे प्राचीन संगीत का पतन हो गया। विशेषकर उत्तरी भारत में तो प्राचीन संगीत परम्परा जिसमें ताल लिपि भी आती है लुप्त प्रायः हो गई।

शारंगदेव के बाद 1500 ई. से तब शारंगदेव के ग्रंथ को ही आधार मानकर लगभग सारे ग्रंथ लिखे गये। सिंह भूपाल (लगभग 1350-1400) तथा

कल्पिनाय (15 वीं सदी) के क्रमशः "सुधाकर" और "कमानिधि" व रत्नाकर पर लिखे टीका ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में शारंगदेव के मतों का ही टीका रूप में विवेचन किया है। इसी काल में जीनपुर के सुभेदार (सुल्तान) इब्राहिम खान द्वारा 'सगीत गिरोमणि' इस ग्रन्थ की रचना की गई। 15 वीं सदी के मध्यमें ही मेवाड़ अधिपति राणा कुम्भ न 'सगीत राज' ग्रन्थ की रचना की। इसका आधार ग्रन्थ भी सगीत रत्नाकर ही था। इस प्रकार हम देखते हैं कि 15 वीं सदी तक शारंग देव जल्लेखित ताल एवं ताल पद्धति का प्रभुत्व रहा।

हमें यहाँ ध्यान देना चाहिये कि 15 वीं सदी तक उत्तरी भारत में मुस्लिम प्रभुसत्ता के कारण भारतीय प्राचीन सगीत वाद्यों पर मुस्लिम सस्कृति का असर पड़ा। सगीत मुस्लिम वाद्याहों के मनोरजन का साधन बना। बादशाहों के दरबारियों द्वारा ही एक अलग प्रकार के वादन को एग श्र गारादि गायन को महत्व दिया जान लगा। दक्षिण भारत में मुस्लिमों के आक्रमण से उत्पन्न अराजकता के कारण सगीत का मुक्त रूप में विकास नहीं हुआ तथापि जनजन में, मदिरो में, मठों में छोट छोटे सुभेदारों की सभाओं में तथा उत्तमों के रूप में सगीत की परम्परा बरकरार रहा। दक्षिण भारत में सगीत देशी रूप में विकसित होने लगा था तथा देशी सगीत के अनुरूप "सप्तसूलादि" ताल एवं उसका वादन प्रकार सामने आया। इसके प्रणेता "पुरंदरदास" थे, जिन्हें बतयाग कर्नाटक सगीत पद्धति का भीष्मपितामह कहा जाता है। तभी से कर्नाटक सगीत पद्धति प्रारम्भ हुई। पुरंदर दास का जीवनकाल 1450 से 1564 माना जाता है।

अब हम उत्तर भारत के सगीत पर विचार करेंगे। मुस्लिम सस्कृति के कारण उत्तर भारतीय सगीत पर फारसी तथा ईरानी सगीत का प्रभाव पड़ा। अल्ताउद्दीन खिलजी के दरबार में (1203-1311) यमीनुद्दीन मुहम्मद हुसैन 'खुसरों' दरबारी गायक तथा मन्त्री (अमीर) के रूप में सवारत थे। इन्होंने ईरानी घाट (मूकाम) के आधार पर राग वर्गीकरण लाया तथा भारतीय मूछना पद्धति को अमाय किया। ऐसा भी कहा जाता है कि अमीर खुसरों ने नवीनराग, कबाली ख्यालादि नवीन गीत प्रकार, तथा परती सवारी तुलफाक - आदि नवान तालों की रचना की तथा सितार, तबला आदि वाद्यों का निर्माण किया। अमीर खुसरों (13-14 वीं सदी) का उपरोक्तानुसार जो वर्णन उपलब्ध है वह कहा तक सच है कहा नहीं जा सकता, कारण इसके सम्बन्ध में ठोस प्रमाण भोजूद नहीं है। अमीर खुसरों की कई हिन्दी वाक्य रचनाएँ हैं जिसके आधार पर उसे छन्दों का गान होगा यह माना जा सकता है। सम्भव है कि छन्दों और प्राचीन ताल पद्धति के आधार पर नवीन गीत प्रकारों के लिये उपयुक्त ताल एवं टेके उठाने प्रथम में साये होंगे।

सगीत रत्नाकर के बाद 16वीं सदी की 17 वीं सदी के काल (अक्टूबर 1556-1605 तथा दिसम्बर 1627-158) उत्तरी भारत में प्राचीन सगीत का अलग

प्रकार के संगीत के विकास काल रहा। अकबर के दरबार में 36 प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। इसी काल में खालिद नरेण मानसिंह तोमर ने घबकद गायकी को प्रारम्भ किया तथा उसे प्रोत्साहित किया। 1658 से 1707 ई. स. का औरंगजेब का काल संगीत के लिए दुःख काल रहा तथापि इस काल में भी संगीत ग्रंथों की रचनाएँ की गईं। 18 वीं सदी का मुगल वाग्गाह मुहम्मदशाह रंगिल का (1729-1740) काल संगीत का उच्चकाल रहा। इसी काल में खालिद गायकी का अर्थ और गार युक्त गीतों का अधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ। 18 वीं सदी का उत्तरार्ध में राजनतिक उदयल पुन्यल का काल रहा।

19वीं सदी में संगीत, कुछ कुछ रियामतों के राजाओं के दरबारों में तथा घरानेशर गुरु शिष्य परंपरा के अन्तर् सीमित होकर रह गया। आम लोगों में संगीत रुचि नहीं रही तथा संगीत एक मनोरञ्जन के साधन के रूप में निम्न श्रेणी के लोगों की जीविका का ध्यवसाय बनकर रह गया। किन्तु किन्हीं महाराजाओं ने इस काल में भी संगीत को जनमुलम कराने का प्रयास किया।

20 वीं सदी में उत्तर भारतीय संगीत को समेटकर एक रूप प्रदान करने का श्रेय पं. वि. ना. भातखड़े तथा पं. वि. दि. पल्लुस्करजी को जाता है। इन्होंने उत्तरी भारत के संगीत के अनुसार अपने अपने तालपद्धति की रचना कर उसका प्रचार एवं प्रसार किया।

दक्षिण भारत में बुरदरदास द्वारा 16 वीं सदी में दक्षिणात्य 7 तालों एवं उसके जाति भेद एवं गति भेद के अनुसार अर्थ तालों की रचना बताई गई थी 'दक्षिणी (कर्नाटकी) संगीत में उसी परम्परा का निर्वाह 17 वीं सदी से वर्तमान काल तक होता रहा है। कर्नाटकी संगीत में इसी तालों का प्रयोग होता है।

रत्नाकरोत्तरकालीन संगीत ग्रंथों में ताल निरूपण

संगीत रत्नाकर ग्रंथ के बाद अनेक ग्रंथों में ताल निरूपण किया गया है। ये ग्रंथ दो वर्गों में रखे जा सकते हैं—

(1) जिन ग्रंथों में तालों का निरूपण एक अक्षर के रूप में किया गया है। ऐसे ग्रंथ हैं—संगीत समयसार, संगीतोपनिषत्सारोद्धार, संगीत सुधाकर, रसकौमुदी, संगीत दण्ड, संगीत मकरन्द, नतननिर्णय, अनुपसंगीत रत्नाकर, संगीतसारासूत्र, संगीत सूत्रोदय संगीत सारोद्धार आदि।

(2) जिन ग्रंथों में ताल सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। ऐसे ग्रंथ हैं—

ताल लक्षणम् तालदश प्रकरणम्, तालचन्द्रिका, तालदीपिका, आदि।

अब हम इनमें से कुछ ग्रंथों के आधारे पर तालावन एवं उसकी पद्धति का विकास का विचार करेंगे—

(1) सङ्गीत समयसार (पारश्वर)।

इस ग्रंथ में (जो लगभग रत्नाकर कालीन ही है) पूव ग्रंथो से हटकर ताल मापक बताये है यथा —

8 क्षण = 1 लव, 8 लव = 1 काष्ठा, 8 काष्ठा = 1 निमेष, 8 निमेष = 1 काल, 4 काल = 1 तटि, 2 तटि = 1 अघट, 2 अघट = 1 विदु, 2 विदु = 1 लघु, 2 लघु = 1 गुह, 3 लघु = 1 प्लुत ।

(2) सङ्गीतोपनिषत्सासोद्धार (सुधाकर)।

इस ग्रंथ में देशी तालों के लक्षणों के साथ तालों के निश्चित पाठ (ठेका) भी दिये है । तालसंख्या बसीमित बताई है । 73 देशी तालों का वर्णन है । तालों के अक्षरों के रूप में दल, लघु, प्लुत, कला, मात्रा, विराम आदि का उल्लेख है ।

(3) सङ्गीत दण्ड (प दामोदर)।

इस ग्रंथ में दश प्राणों के विश्लेषण के साथ साथ कुछ नये ताल भी दिये है ।

(4) सङ्गीत मण्ड (नारद कृत)।

इस ग्रंथ में मार्गी तथा देशी ऐसा भेद नहीं है ।

(5) अनूप सङ्गीत रत्नाकर (भावमट्ट)।

इस ग्रंथ में सङ्गीत समयसार के अनुसार ही काल मापक बताये है ।

(6) सङ्गीत पाठ

इसमें सङ्घट्ट त्रियाजों के लक्षण भिन्न बताये है । मार्गी तालों के भी पाठ दिये है ।

(7) सङ्गीत दामोदर (शुभकर)।

इस ग्रंथ में भरत मुनि द्वारा मा य तालों का विवेचन तृतीय अष्टादश में किया है । मात्राकाल, लघु दल आदि के साथ साथ 60 तालों के नाम, विवरण, प्रस्तार, ताल पाठ आदि का वर्णन किया है ।

(8) सङ्गीत साङ्गमत्त (तुलजाजी)।

इस ग्रंथ में सङ्गीत रत्नाकर तथा नाट्य शास्त्र के आधार पर 13 के अन्वय में ताल विवेचन किया है ।

(9) सङ्गीत सार (सवाई प्रनारसिंह)।

इस ग्रंथ में मार्गी-देशी के साथ साथ सप्त मूलादि तालों का विवेचन भी किया गया है ।

(10) तालसंज्ञानम्, तालदशप्रकरणम्, ताल चन्द्रिका —

इन ग्रंथों में देशी तालों का वर्णन नहीं है । मूलादि तालों के साथ साथ ताल तालों का विवेचन; ताल के दशप्रकरणों का विवेचन किया गया है ।

उपरोक्त मध्ययुगीन ग्रंथों के आधार पर ताल धारणा में उनके अक्षरों के साथ साथ के मान, प्रथम और आधा का सम्बन्ध, मार्गी देशी तालों की समाप्ति

ताल के पाठ, आदि के आधार पर प्राचीन तथा मध्यगीय ताल एवं उसके अवन, तालप्रयोग स्वरूप आदि में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। प्राचीन काल में गायन, वादन तथा नृत्य के साथ ताल वादन उसके उपरजन, सौम्य बद्धि, ध्वनि विाघनता, भराव के लिए किया जाता था। ताल वादन गीत वाद्यको प्रतिष्ठा देने या उसने मान रखने के लिए नहीं किया जाता था। रघी वारण शास्त्रीय संगीत भी यन वाद्य वादन की संगति से सम्पन्न हो जाया करता था। अवनद्ध वद्यो के प्रमुख के साथ साथ तालके के ठेके की आवश्यकता महसूस हुई होगी। मध्यगीय यों में कही वही तालो के पाठो का उच्छ है। लकिन 19 वी सनी तक तालो के निश्चित बोलो (ठको) की क्या स्थिति थी इस सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है।

उत्तर भारतीय संगीत में आज यह स्थिति है कि प्रत्येक ताल का ठका निश्चित है, यद्यपि ठकों में थोड़ा बहुत अंतर दिखाई देता है। कर्नाटक संगीत पद्धति में अवनद्ध वाद्य का प्रयोग उपरजन के रूप में ही किया जाता है, तथापि अस्यास के लिए कुछ बोल निश्चित हान है। बोलो में तत नित तो न प्रमुख है। प्रत्येक ताल की पक्षी मात्रा में तन का ही प्रयोग किया जाता है।

उदा —

(1) आदि ताल (चतस्र जाति)।

1	2	3	4	5	6	7	8
त	दित	तों	न	तत	दित	तों	न

(2) रूपक ताल (चतस्र जाति)

1	2	3	4	5	6
त	त	त	रि	कि	ट
<hr/>					
दि	त	त	रि	कि	ट
<hr/>					
तों	६	त	रि	कि	ट।
<hr/>					
न	६	त	रि	कि	ट
<hr/>					

भारत वष में वर्तमान काल में तीन ताललिपि पद्धतिया मुख्य रूप में प्रचलित हैं। (1) प वि ना भातखडे की उ भारतीय, ताललिपि पद्धति (2) प वि दि पतुस्कर की उ भारतीय ताललिपि पद्धति (3) कर्नाटक (दक्षिण) ताललिपि पद्धति। इसके अलावा कुछ अन्य ताललिपिया भी हैं जिनका प्रचार नहीं क बराबर है। व है — भगुनाथ वर्मा की ताललिपि पद्धति, प ओकारनाथ ठाकुर की ताललिपि पद्धति, रविद्रनाथ ठाकुर की ताललिपि पद्धति, मते ताललिपि पद्धति आदि।

वर्तमान कर्नाटकी ताल पद्धति

दक्षिण भारत के आंध्र, तमिलनाडु, केरल आदि प्रांतों में जो संगीत पद्धति प्रचलित है उस कर्नाटकी संगीत पद्धति कहते हैं। दक्षिण (कर्नाटकी) संगीत पद्धति के प्रचलित तालपद्धति को कर्नाटकी तालपद्धति कहते हैं। इस तालपद्धति का इतिहास प्राचीन नहीं है। प्राचीन क्लिष्ट तालपद्धति के स्थान पर इस तालपद्धति का प्रचलन 15 वीं 16 वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ। रत्नाकरकाल (13 वीं सदी) में ही संगीत के दो भेद हो गये थे। मार्गी तथा देशी संगीत। मुस्लिम आक्रमणों तथा अखण्डता के कारण संगीत स्थानीय लोगों के घरों, मठों या फिर सामंतों के महलों में सीमित होकर रह गया था। इसी कारण देशी संगीत या लोक संगीत के लिए उपयुक्त सरल तालों की आवश्यकता महसूस हुई। दक्षिण भारतीय कर्नाटकी तालपद्धति में ताल कला एवं ताल शास्त्र दोनों रूप दिखाई देते हैं। इसमें प्राचीन तथा मध्यकालीन दोनों प्रकार के तालाकन का समावेश है। प्राचीन काल से ही तालों का स्वरूप लयात्मक रहा है जो आज भी कर्नाटक तालपद्धति में दिखाई देता है। गणित के सिद्धांतों का प्रयोग जिनमें इस ताल पद्धति में दिखाई देता है, वे ताल पद्धतियों में नहीं। प्राचीन 108 तालों और वर्तमान 350 तालों में से कुछ तथा अल्प लयात्मक तालों का प्रयोग आज के कर्नाटकी संगीत में दिखाई देता है।

वर्तमान कर्नाटकी तालपद्धति का आधार सप्त सूलादि ताल है। 'गायव वेदों घटसार' इस ग्रंथ में जिसके लेखक तथा समय का कोई ज्ञान नहीं है, मुख्य सप्त तालों का वर्णन है। दक्षिण भारतीय संगीत के विद्वान पंडित पुरंदरदास ने (इ. स. 1480—1564), रागात्मिक दृष्टि के अंतर्गत भारतीय संस्कृति एवं संगीत का अध्ययन कर लोकसंगीत के अनुसार व्यवहार के लिए उपयुक्त लघुतम तालों का प्रयोग किया। वे ताल 7 थे जिनका सप्तसूलादि के रूप में शास्त्रीय (मार्गी) एवं देशी (उपशास्त्रीय या लोक संगीत) दोनों प्रकार के गीतों में प्रयोग सफल रहा। इन तालों के सरल उपयोग के कारण लोगों ने एवं उसी प्रकार पहिना ने इसे स्वीकार किया। इसके बाद इसका प्रचार एवं प्रसार बढ़कर इस सप्तसूल ताल पद्धति ने प्राचीन तालपद्धति का स्थान ग्रहण कर लिया। शास्त्रीय संगीत के लिए अधिक उपयुक्त बनाने की दृष्टि से इन तालों को पंचजाति भेद के अनुसार समझ किया गया। इस प्रकार इन्होंने लघु तालों से बृहत् तालों का निर्माण सम्भव हुआ। जिन सात तालों पर यह पद्धति आधारित है उनके वि. ह. (अ. म.) भी निश्चित किये गये। जैसे दत्त '0' 2 मात्राकाल, लघु '1' = 4 मात्राकाल तथा विराम '—' 1 मात्राकाल के बराबर है। तालों के रूप में इन चिह्नों का मात्राकाल जाति के अनुसार बदल जाता है। तालों में प्रयुक्त केवल लघु चिह्न चतुरस्र जाति में—4 मात्राकाल, त्रयस्र जाति में—3 मात्राकाल तथा विष्रजाति में—7 मात्राकाल, छह जाति में—5

मात्रिक काल तथा सकीण जाति में—9 मात्रिक काल का हो जाना है। साधारण तथा कोई भी ताल यदि उसकी जाति नहीं लियी हो, तो चतुरस्र जाति का माना जाता है।

फर्नाटक षट्ति के सप्तसूत्रादि ताल एवं उनके चिह्न —

क्रम	ताल नाम	चिह्न या अंग
1	घन	1 0 1 1
2	मठ	1 0 1
3	रूपक	1 0
4	क्षप	1 0
5	त्रिपुट	1 0 0
6	अठ	1 1 0 0
7	एक	1

षट्ति भेद के अनुसार तालों का निर्माण किया गया। चतस्र, तिस्र, द्विस्र, खण्ड, सकीण की क्रम से सानो तालों का $7 \times 5 = 35$ तालों की उत्पत्ति बताई है। ताल किसी भी जाति का हो उसके चिह्न (अंग) वही रहते हैं जो तालों के नाम से जुड़े हैं।

षट्ति जाति भेद के अनुसार ताल निर्माण

ताल नाम	चिह्न या जाति	त्रयस्र	चतस्रस्र	द्विस्र	खण्ड	सकीण
(1) घन	1 1 0 1	3, 3, 2 3	4 2, 4 4	7, 2, 7, 7,	5, 2, 5, 5	9 2, 9
(2) मठ	1 0 1	3 2 3	4, 2 4	7, 2, 7	5, 2, 5	9 2, 9
(3) रूपक	1 0	3 2	4 2	7, 2	5, 2	9 2
(4) क्षप	1 0	3 3	4 3	7, 3	5 3	9, 3
(5) त्रिपुट	1 0 0	3 2, 2	4 2 2	7 2, 2	5 2, 2	9 2 2
(6) अठ	1 1 0 0	3 3 2 2	4 4 2 2	7 7, 2, 2	5, 5, 2 2	9 9 2, 2
(7) एक	1	3	4	7	5	9
कुल ताल संख्या		7	7	7	7	7 = 35

षट्ति जाति भेद के अनुसार तालों की मात्राएँ

ताल नाम	त्रयस्र	चतस्रस्र	द्विस्र	खण्ड	सकीण
(1) घन	11	14	23	17	29
(2) मठ	8	10	16	12	20
(3) रूपक	5	6	9	7	11

4) पव	6	7	10	8	12
4) त्रिपुट	7	8	11	9	13
(3) मठ	10	12	18	14	22
(7) एक	3	4	7	5	9

पव जाति में के अनुसार बने तालों में सबसे अधिक 29 मात्रा का ताल सजीन धव तथा सबसे कम 3 मात्रा का पव एक ताल है। यहाँ हम यह भी धरते हैं कि एक ही मात्रिक सख्या के ताल एक से अधिक भी हैं।

जैसे — 8 मात्रा के — चन्द्र मठ चतुरस्र त्रिपुट, षष्ठ पव आदि। इस प्रकार समान मात्रिक तालों का होना पर भी उनकी जाति भिन्न होने से उनका ब्यक्त भिन्न भिन्न होगा। पव जाति भेदों में कम मात्रिक काल के तालों की सख्या अधिक है। अतः इनका उपयोग देसी संगीत के लिये भी उपयोगी सिद्ध हुआ होगा।

कनटिकी संगीत के तालविधि म लघु के अन्वय 5 भेद भी बतलाये गये हैं जिसके अनुसार अधिक मात्राओं के तालों का निर्माण हो सके। यद्यपि इन बड़े तालों को व्यवहार में नहीं लाया जाता है। ये भेद निम्नानुसार हैं —

- (1) दिग्धलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 6 हो जाती है।
- (2) सिहलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 8 हो जाती है।
- (3) वणलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 10 हो जाती है।
- (4) वाद्यलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 12 हो जाती है।
- (5) कर्नाटकलघु — इसके अनुसार लघु की मात्रा 16 हो जाती है।

अथ लघु में के अनुसार सप्त तालों की मात्राएँ—

क ताल	विट	दिग्धलघु	सिहलघु	वणलघु	वाद्यलघु	कर्नाटकलघु
1 धव	1011	6,2,6,6	8,2,8,8	10,2,10,10	12,2,12,12	16,2
2 मठ	101	6,2,6	8,2,8	10,2,10	12,2,12	16,2,16
3 एक	10	6,2	8,2	10,2	12,2	16,2
4 पव	10	6,3	8,3	10,3	12,3	16,3
5 त्रिपुट	100	6,2,2	8,2,2	10,2,2	12,2,2	16,2,2
6 मठ	1100	6,6,2,2	8,8,2,2	10,10,2,2	12,12,2	16,16,2,2
7 एक	1	6	8	10	12	16
काल ताल	—	7	7	7	7	7=35

यद्यपि दिग्धलघु सिहलघु वणलघु, वाद्यलघु इन लघु भेदों के अनुसार

$7 \times 5 = 35$ तालों का निर्माण हो सकता है किंतु इस प्रकार कतल विम को सर्व माय नहीं समझा जाता है। इन लघु भेदों के अनुसार तालों मात्राएँ :—

क्र	ताल	चिह्न	दिव्यलघु	सिंहलघु	वर्णलघु	वाद्यलघु	कनाटक
1	घब	1011	20	26	32	38	50
2	मठ	101	14	18	22	26	34
3	रूपक	10	8	10	13	14	18
4	क्षप	10	9	11	13	15	19
5	त्रिपुट	100	10	12	14	16	20
6	अठ	1100	16	20	24	28	36
7	एक	1	6	8	10	12	16

गति भेद — पाच जातियों को गतिया मानकर यदि हम गति भेद के अनुसार तालों का निर्माण करें तो 35 जाति भेद से बने तालों के $35 \times 5 = 175$ का निर्माण होगा। गति भेद में ताल के प्रत्येक अक्षर को गति के अनुसार बदला जा है।

उदा — यदि हम रूपक ताल को जाति एव गति भेदानुसार निर्माण करें रूपक ताल के $5 \times 5 = 25$ भेद निर्माद होंगे

ताल रूपक - जग 10

जाति भेद के अनुसार

चतस्र	—	4, 2	—	6 मात्रा
त्रयस्र	—	3, 2	—	5 मात्रा
मिश्र	—	7, 2	—	9 मात्रा
द्वन्द्व	—	5, 2	—	7 मात्रा
सक्तीण	—	9, 2	—	11 मात्रा

जाति के भेद के अनुसार निर्मित रूपक ताल के 5 भेदों—म से यदि प्रत्येक भेद को पचगति के अनुसार उत्पन्न करें तो $5 \times 5 = 25$ ताल निर्माण होगा। उदा —

त्रयस्र जाति रूपक 6 गति भेदों के अनुसार—	चिह्न 10	$3 + 2 = 5$ मात्रा
चतस्र गति	$3 \times 4 + 2 \times 4$	$= 20$ मात्रा
त्रयस्र गति	$3 \times 3 + 2 \times 3$	$= 15$ मात्रा
मिश्र गति	$3 \times 7 + 2 \times 7$	$= 35$ मात्रा
द्वन्द्व गति	$3 \times 5 + 2 \times 5$	$= 25$ मात्रा
सक्तीण गति	$3 \times 9 + 2 \times 9$	$= 45$ मात्रा

यदि हम सप्त तालों के पंच जाति भेद के अनुसार बने $(7 \times 5) 35$ तालों में से प्रत्येक ताल को गति भेद के अनुसार निर्माण करे तो $35 \times 5 = 175$ ताल निर्माण होंगे। इसी प्रकार त्रि यलघु, सिंहलघु, वर्णलघु, बाद्यलघु तथा कर्नाटक लघु भेदों के आधार पर बने $(7 \times 5) = 35$ तालों को भी गति भेद के अनुसार निर्माण करे तो 175 ताल और हो सकते हैं।

कर्नाटकी संगीत ताल पद्धति में गणितोप आधार पर जाति—गति भेद के अनुसार $(175 + 175) = 350$ तालों की निर्मिती बताई है। यद्यपि 350 तालों की निर्मिती सम्भव है तथापि वास्तविक व्यवहार में पंच जाति भेद (चतुरस्र, त्रयस्र, मिथ्र, खड, सक्तीर्ण) के 35 तालों में से ही कुछ ताल लाये जाते हैं। पंच जाति 35 तालों के नाम द्वारम व्यक्तस्वामि नायडू तथा गिरमाजीराव के भी ने छल्लग अलग दिये हैं।

गिरमाजीराव के नूतन सांकेतिक नाम ताल के जातिगत आधार पर सामक लगत है। उनके वर्णन के अनुसार ताल स्वरूपों का नाम निम्नानुसार होता है —

गिरमाजी राव ने वर्णाक्षरों को चार भागों में बाँटा है। यथा :—

- (1) 'क' आदि नवम् वर्ण—क, छ, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ।
- (2) 'ट' आदि नवम् वर्ण—ट, ठ, ड, ढ, ण, त, प, द, ध।
- (3) 'व' आदि पंचम वर्ण—व, फ, ब, भ, म।
- (4) 'य' आदि अष्टम वर्ण—य, र, ल, व, श, ष, स, ह।

इन भागों के आधार पर गिरमाजीराव द्वारा बताये ताल नाम के आधार पर उस ताल की जाति समझी जा सकती है। किसी ताल नाम का प्रथम अक्षर उपरोक्त वर्णों में से कितनी भी वर्ण के जिस क्रम पर आता हो, वही क्रम सदस्यो ताल की जाति का ज्ञान करा देती है।

उद 1—(1) लक्ष्मी ताल

इस ताल के नाम का प्रथम अक्षर "ल" यह वर्ण में 3 रे क्रम पर है अतः यह त्रयस्र जाति का ताल होगा। अब लक्ष्मी ताल त्रयस्र जाति का कौन सा ताल है यह जानने के लिये आगे के अक्षरों से लघु दूत प्राप्त कर लेने पर ताल का नाम पता होगा। इसी यह दीर्घ अक्षर केवल एक लघु को बताता है अर्थात् यह एक ताल होगा। अर्थात् लक्ष्मी ताल त्रयस्र जाति का ताल होगा।

उद —(2) वाणीनायक ताल

इस ताल के नाम का प्रथम अक्षर 'वा' यह वर्ण में चाँचे क्रम पर आता है अतः वाणीनायक ताल चतुरस्र जाति का ताल होगा। अब यह ताल कौन सा है यह जानने के लिए ताल के अगे क (वा छीह कर) अक्षर से लघु दूत प्राप्त कर

लेन पर ताल का नाम ज्ञात होगा। जी=1, ना=1, य=0, क=0 इस प्रकार लघु दूत ज्ञात होते हैं। 1100 स्वरूप मठताल का है। अतः वार्जनायक ताल चतुरस्र जाति का अठ ताल होगा।

कर्नाटकी ताल पद्धति में 350 तालों के अतिरिक्त चापुताल, दगादि मध्यादि ताल तथा नवसंधि तालों के लयात्मक स्वरूपों का उल्लेख मिलता है।

चापुताल—ये ताल देवों तालों के अतमत्त दशो सगीत (साक सगीत) के अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं। इन तालों में दो आघात या 1 भरी, 1 खाली होती है। इसके चार भेद हैं—

- (1) मिथ चापु — (3+4=7) क्रमशः 3 और 4 के 2 खंड होते हैं मात्रा 7।
- (2) छड चापु — (2+3=5) क्रमशः 2, 3 के दो खण्ड होते हैं मात्रा 5।
- (3) त्रयस्र चापु — (1+2=3) क्रमशः 1, 2 के दो खण्ड होते हैं मात्रा 3।
- (4) सकीण चापु — (4+5=9) क्रमशः 4, 5 के दो खंड होते हैं मात्रा 9।

देशादि—मध्यादि ताल—

इन तालों की प्रत्येक आवृत्ति 4 अक्षर काल की होती है। यदि 4 अक्षर काल में 3 रे अक्षर पर खाली (नि शब्द क्रिया) दशाति है तो वह है मध्यादि तथा प्रथम अक्षर पर खाली (नि शब्द क्रिया) बताते हैं तो वह देशादि ताल होगा।

नवसंधिताल—

दक्षिण भारत के मठों तथा मंदिरों में नौ-संधि कालों के क्रीतनादि के समय जिन 9 तालों का प्रयोग किया जाता है, उन तालों को नवसंधि या नौ-संधि ताले कहते हैं। नौ संधियों के नाम, उनके तालों के नाम, तथा अंग निर्मांकित है—

संधि नाम	तालनाम	अंग
1 अम्ह संधि	अम्ह	1 8 1 8'
2 इद्र संधि	इद्र	1 1 8 1 0 0
3 अग्नि संधि	मत्तापन	1 0 1 0 1
4 यम संधि	भृगो	1 8 1 1
5 निवृत्ति संधि	नैरुत्ति	1 1 1 1 0 0
6 वरुण संधि	नथ	1 0 0 0 1
7 वायु संधि	बलि	0 0 0 1
8 कुबेर संधि	कोट्टारी	1 8 8 8
9 ईशान संधि	टविकरी	8 1 8

अ ग — कर्नाटकी ताल पद्धति में तालों की रचना करने वाले विभागों (विहों) को अ ग कहते हैं। अ गों के नाम, चिह्न तथा अक्षरकाल सख्या निम्नानुसार मानी जाती है —

अ ग का नाम	चिह्न	अक्षर काल सख्या
(1) अणुदत्त	—	1
(2) दत्त	0	2
(3) लघु	1	4
(4) मृग	5	8
(5) प्लुत	3	12
(6) काकप	+	16

बोल—

- एक अक्षर काल के कुछ बोल— त, कि, कु, दु, घ, न ।
- दो अक्षर काल के कुछ बोल— तक, तिघ, जक, या ये, परि, नक, धिधि, किट, धों, गक, धिमि, दिग ।
- चार अक्षर काल के कुछ बोल— जगजग, टिटिकिणि, तगयो, तत्या, गिडि गिडि, दिविदा, ताकिट, धिमिधिमि
- छह अक्षर काल के कुछ बोल— धिमिधिमितत्, धिधिकिटतक किटकिटघा, गिडिगिडिदाम ।
- आठ अक्षर काल के कुछ बोल— धिकिटधिकिटधिम, ततपरिधिरिकिट, धिकितकिट तक, धुमधुम धुमकिट ।

कर्नाटक सप्तताल स्वरूप का विशेषताये

- (1) प्राचीन 108 तालों में से कुछ तालों के समान कुछ ताल इसमें प्रचलित हैं ।
- (2) सप्तताली में केवल 3 अ गों (लघु दत्त तथा अणुदत्त) का प्रयोग होता है ।
- (3) लघु का जब दूसरे अ गों के साथ संयोग नहीं होता तो उसका एकाग स्वरूप एक ताल का धोतक होता है ।
- (4) अ ग भेद के आधार पर ध्रुव, मठ, रूपक, क्षप, त्रिपुट, अठ, एक ये 7 ताल अलग अलग स्पष्ट हैं ।
- (5) प्राति भेद के आधार पर निर्मित 35 ताल बनते हैं । प्राति के अनुसार लघु की मात्रा बदल जाती है ।
- (6) प्रत्येक ताल में लघु का होना आवश्यक है ।
- (7) कुल ताल समान मात्रा में होने पर भी छहों के आधार पर भिन्न हैं ।
- (8) सप्तताल स्वरूप में अणुदत्त का, आदि और अ त में प्रयोग नहीं है ।

- (9) सप्तताल स्वरूप में 3 से अधिक लघु, 2 से अधिक दश तथा 1 से अधिक अणुत्तम का प्रयोग नहीं है।
- (10) जिन तालों में एक से अधिक लघु का प्रयोग है वहाँ जाति भेद में सप्त लघु एक जाति अर्थात् समान मात्राओं के होते हैं।
- (11) सप्तताल स्वरूप में गुरु प्लत एवं वाक्यपद अर्णों का तथा उनके माप अणु दत्त के प्रयोग का लोप है, इस कारण प्राचीन तालों की विच्छेदात्मकता समाप्त हो गई है।
- (12) सप्तताल स्वरूप में जाति भेद एवं गति भेद के गणितीय आधार पर सूक्ष्म विवचन किया है।
- (13) सप्ततालों में छाली नहीं होती।
- (14) सभी ताल समसे प्रारंभ होते हैं।
- (15) जाति भेद के आधार पर बने तालों के नाम अलग हो जाते हैं।
- (16) 35 तालों में सबसे लंबी तथा सही जाति का घवत्तान तथा सबसे छोटा ताल त्रयस्त्र जाति का एक मात्र है।
- (17) किसी ताल की जाति के अनुसार अक्षर मय में स्पष्ट करने के लिये ताल अर्णों के पूर्व अथवा प्रथम अर्ण के ऊपर जाति बोधक अक्षर लिख देते हैं जैसे —त्रयस्त्र जाति घव—3 । 2 । । अथवा ।³ 0 । ।

उत्तर हिन्दुस्तानी ताल लिपि पद्धतियाँ

उत्तरी भारत पर दक्षिण भारत की अपेक्षा विदेशी सभ्यता विशेषकर मुस्लिम तथा फारसी सभ्यता का प्रभाव अधिक रहा। 13 वीं सदी से ही उत्तरी भारत के संगीत में मुस्लिम सभ्यता तथा मुसलमानों के शासन का विस्तार होने के साथ साथ भारतीय संगीत का ह्रास प्रारंभ हो गया था। मुस्लिम बादशाहों के दरबारों में संगीत एक मनोरंजन तथा भागविलास का साधन समझा जाता था। जिस कारण अथवा गार प्रधान गीत एवं उसके संगत के रूप में गान भी प्रारंभ हो गया था। मुस्लिम बादशाहों ने भारतीय संगीत के विद्वानों को जोर जबरदस्ती से अपने शरण में लाकर, उनसे एक अलग संगीत का प्रचार एवं प्रसार करवाया। धीरे धीरे प्राचीन गीत प्रकारों के आधार पर घवपद गायनशैली तथा मुस्लिम फारसी गीत प्रकारों के आधार पर ठूमरी, हप्पा गजल, कयाली आदि गायन शैलियों का प्राचाय भारतीय संगीत में बढ़ता गया। इसी काल में खयाल गायन भी प्रचार में आया। इन गीतों के लिए आवश्यक ताल प्रकार भी प्रचार में आये। अलग अलग सूभेदारों ने भी अपने मनोरंजन के लिए अपने सेवा में छोटे बड़े संगीतकारों को रखा दिया तथा इस प्रकार एक ही से गीत प्रकारों के लिए अलग अलग ताल प्रकारों का निर्माण हुआ। वर्तमान में भी हमें एक ही ताल के भिन्न भिन्न ढके होने के प्रमाण मिलते हैं। भिन्न भिन्न गीत प्रकारों के साथ साथ जिन ताल प्रकारों का प्रादुर्भाव हुआ व इस प्रकार के —

ताल झपताल—मात्रा 10—1, 2 | 3, 4, 5 | 6, 7 | 8, 9, 10
 × | 2 | 0 | 3

अर्थात् दादरा ताल में झपताल की अपेक्षा कम समय लगता है।

विभाग—

ताल के जाति के अथवा बजन के आधार पर जो छठ किये जाते हैं 'उ' विभाग कहते हैं यह कहकर परिभाषित किया। विभाग को दर्शाने के लिए अक्षर छण्ड करना ही वहाँ बीच में पड़ी लकार के बिहू द्वारा विभाग को स्पष्ट किया जाता है। उद—

ताल दादरा (त्रयस्त्र जाति)—

1,	2,	3		4,	5	6
घा	घी	ना		घा	घी	ना
×				0		

ताल झपताल (छठ जाति)

1,	2		3,	4,	5		6	7		8,	9,	10
×			2				0			3		
घी	ना		घी	घी	ना		तो	ना		घी	घी	ना
×			2				0			3		

ताली घा भरी—

ताल के विभागों को अलग अलग जिस रूप में प्रयोगात्मक तरीके से हाथ में सश द और निरद क्रियाओं द्वारा प्रस्तुत किया जाता है उन क्रियाओं में स श द क्रिया को ताली कहते हैं। लिखित रूप में सश द क्रिया को स्पष्ट करने के लिए अ को द्वारा बताया जाता है।

जस—झपताल में प्रथम द्वितीय तथा चतुर्थ छडों के सश द क्रियाओं को स्पष्ट करने के लिये उन छडों की प्रथम मात्रा के नीचे ×, 2, 3 आदि अ को प्रयोग किया गया है। यहाँ यह ध्यान रहे कि प्रथम सश द क्रिया अर्थात् ताली अ 1 अ क के स्थान पर × इस सम के बिहू द्वारा दर्शाया जाता है। जिस भाग में प्रथम मात्रा के नीचे जो अ क हो वह उस ताल की उसी क्रमांक की ताली हो तथा ताली दशक अ तिम अ क उस ताल की कुल तालियों का घोरक होगा।

खाली—

ताल के जिन छण्डों में निरद क्रिया को प्रयोगात्मक रूप में दर्शाया जाता है उसे खाली कहते हैं। लिखित रूप में खाली को स्पष्ट करने के लिए 0 बिहू का प्रयोग किया जाता है। जिस विभाग में खाली हो उस विभाग की पहली मात्रा के नीचे खाली का बिहू लिखकर खाली को स्पष्ट किया जाता है।

जैसे — दादरा ताल का दूसरा विभाग घाली का है ।

1,	2,	3		4,	5,	6
घा	घी	ना		घा	ती	ना
X				0		

सम —

माल का वह स्थान जहाँ से ताल प्रारम्भ होता है अर्थात् ताल की पहली मात्रा के स्थान को सम स्थान माना गया है। सामान्यतः सम स्थान पर पहली ताली ही होती है। कबल रूपक ताल इसका अर्थ है। समके स्थान पर ताली हो अथवा घाली उस स्थान को समके X (गुणा) चिह्न द्वारा ही दर्शाया जाता है। जैसे

रूपकताल —

1,	2,	3		4,	5,		6,	7
ती	ती	ना		घी	ना		घी	ना
0				2			3	
X								

ठेका —

(किसी ताल की निश्चित मात्रा, उसका स्वरूप, तथा उसके वजन के आधार पर उस ताल के लिए निश्चित किये गये बोल समूह को ठेका कहते हैं। ठेके को अन्वरो (बोल) द्वारा ताल की मात्रा सध्या के नीचे लिखकर स्पष्ट किया जाता है। समान मात्रा वाले तालों के ठेके उनके वजन, जाति तथा उपयोग के आधार पर अलग अलग पाये जाते हैं। लगभग ऐसे तालों के विभाग अलग अलग होते हैं। कुछ तालों के समान मात्रा तथा समान विभाग होने पर भी उनके गीत प्रकारों के उपयोगानुसार ठेके भिन्न होते हैं। जैसे —

एकताल —	1,	2		3,	4,		5,	6		7	8	
	घि	घि		घागे	तिरकिट		तू	ना		क	सा	
बोतान	घा	घा		दि	ता		तिट	घा		दि	ता	
	X			0			2			0		
	9,	10		11,	12							
	घागे	तिरकिट		घी	ना							
	तिट	कत		गदि	मिन							
	3			4								

लयकारों —

(एक से अधिक पाठकों को एक मात्रा में लिखित रूप में प्रस्तुत करने के

लिए उन सारे पाठवर्णों के नीचे जिन्ह एक मात्रा में बताना है अथवा (—) चिह्न का प्रयोग करते हैं।

उद —

- (1) एक मात्राकाल में दो वण— दा
- (2) एक मात्राकाल में तीन वण—तकिट
- (3) एक मात्राकाल में चार वण—घामेतिट

विधाति —

इस ताल की भाषा में दम भी बढ़ते हैं। दो वणों के मध्यम में यदि द्विधाति काल हो तो उस लिखित रूप में दर्शाने के लिए एक मात्रिक काल को 's' अथवा (—) शून्य के चिह्न द्वारा स्पष्ट किया जाता है। जितने मात्रा की विधाति दर्शानी हो उतने चिह्न उपयोग में लाये जाते हैं।

उद — घमार का टेका,

क	घि	ट	धी	ट		घा	s		क	ति	ट		ति	ट	ता	s	
×						2			0				3				

उपरोक्त घमार ताल में प्रत्येक 6 पाटादारों के बाद एक मात्रा का विधाति काल स्पष्ट किया गया है।

पलुस्कर ताल लिपि पद्धति

(प वि दि पनुस्कर जी का जन्म सन् 1872 के अगस्त मास में महाराष्ट्र के बेलगांव में हुआ। आपने बाध्यावस्था से ही संगीत का अध्ययन प्रारंभ किया था। सन् 1896 के बाद आपने संगीत साहित्य की खोज के लिए भारत के भिन्न भिन्न प्रान्तों और गहरों का विशेषकर पश्चिमी भारत का दौरा किया। आप प्रेरणा से ही आपके दिष्यों ने बम्बई में राधक महाविद्यालय मंडल की स्थापना की। संगीत के शास्त्रोक्त पक्ष के साथ साथ आपने भक्ति संगीत को आधार बनाकर संगीत की सेवा की। आपने कई ग्रंथों की भी रचना की। पलुस्कर जी की स्वयं लिपि एक ताललिपि पद्धति भातखड़े जी के स्वर ताल पद्धति से भिन्न है। आपने देहावसान 21 8 1931 को मिरज में हुआ। पलुस्कर जी द्वारा प्रतिपादित ताल लिपि को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

मात्रा —

ताल में लगने वाले समय की इकाई अर्थात् मात्राओं को अको द्वारा लिखित रूप में स्पष्ट किया। एक ही लघ में जितनी मात्राएँ कम होंगी उतना उस ताल का समयकाल कम होगा तथा मात्राएँ अधिक होने पर समयकाल भी अधिक सम्भव होगा।

विभाग —

पनुस्कर तालपद्धति में ताल के विभागों को दर्शाने के लिए भातखड़े तालपद्धति

मान बीच में छड़ी लकीर नहीं दी जाती । जहाँ जहाँ ताल में विभाग होते हैं वहाँ हा एक अक्षर कालका स्थान रिक्त छोड़ा जाता है । तालखंड या विभाग, विभागों के दशाये गये बिन्दु द्वारा ही अलग अलग समझे जाते हैं ।

१ — दादरा ताल —

घा घी ना घा ती ना
1 +

ताली या भरी —

पुनः स्वर तालपद्धति में विभागों के ताली स्थान को जिस मात्रा पर ताली गती हो उसी क्रम के मात्रा के अक्षर द्वारा ताली स्पष्ट की जाती है । इस अक्षर को नीचे लिखा जाता है ।

उद — क्षपताल —

घी ना घी घी ना तीना घी घी ना
1 3 + 8

खाली —

ताल के जिन विभागों में निःशब्द क्रिया की लिखित रूप में दर्शाना हो वहाँ उस विभाग को पहली मात्रा के नीचे ' + ' (घन) चिह्न प्रयोग में लाया जाता है ।

उद — दादरा — घा घी ना घा ती ना
1 +

सम —

ताल का प्रारंभ स्थान सम होती है अतः उस स्थान को पहली ताली मान कर "1" अक्षर द्वारा ही स्पष्ट किया जाता है ।

समकारी —

एक मात्राकाल में एक पाटाक्षर को नीचे आड़ी लकीर से घा दो पाटाक्षर हो तो आधी (1/2) मात्रा चिह्न के आधार पर घाग शून्य चिह्न से, 3 पाटाक्षर होने पर प्रत्येक पाटाक्षर के नीचे ना ति ट 1/3 मात्रा चिह्न के अनुसार, 4

पाटाक्षर होने पर 1/4 के चिह्न द्वारा घा के ति ट इस प्रकार, 6 पाटाक्षर हो तो 1/6 मात्रा चिह्न के अनुसार प्रत्येक पाटाक्षर के नीचे त कि ट का चिह्न

चिह्न के अनुसार तथा आठ पाटाक्षर होने पर 1/8 मात्रा के चिह्न के अनुसार ति र वि र कि ट त क दर्शाया जाता है ।

विधाति —

विधाति के लिए 6 बिंदु प्रयोग में लाते हैं । एक मात्रा का दम हो तो 5, आधीमात्रा का दम हो तो 5 चार मात्रा के लिए 5 दो मात्रा के लिए 5

वर्तमान तालों का विकास एवं इतिहास

काल या समय परिवर्तनशील होता है। यह प्रकृति का नियम है। दिन के 24 घण्टों में ही देखिये दिन का समय उजाला लिये तो रात का समय अँधेरा लिये होता है। वष में शीत और गर्म का बाल होता है। महीने की 15 रातों उजली की तो 15 रातों अँधेरी की होती है। अर्थात् प्रकृति का नियम ही है कि कोई भी समय समान नहीं होता। भूतल का प्राणि मान प्रकृति के नियमों में बँधा हुआ होता है। मनुष्य प्राणि सारे प्राणियों में सबसे अधिक बुद्धिमान होता है एवं उसी के बल पर वह समय को अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तनशील बनाने का प्रयास प्राचीन काल से ही करता चला आ रहा है। अपनी ज्ञान वृद्धि के साथ उसने प्रकृति—प्रकृत अनेक तत्वों का अपनी सुविधानुसार प्रयोग करना प्रारम्भ किया। प्रकृति दत्त तत्वों द्वारा ही उसने सय धारणा, स्वर धारणा सीधी एवं पृथक् सगीत के रूप में विकसित किया। समय या काल का सगीत के अनुसार मापन प्रारम्भ किया तथा काल मापन की इकाई को (सगीत के सँदम में) माशा नाम दिया। कुछ सीमित मात्राओं के अंश—स्वरूप को ताल नाम दिया जिसके आधार पर गायन, वादन नृत्य का परिमाण निर्दिष्ट किया जाता था। भरत ने अपने ग्रन्थ “नाट्यशास्त्र” में 5 मार्गी तालों का विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र ग्रन्थ का रचना काल तीसरी सदी सवमाय है।

काल या समय परिवर्तनशील होता है उसी सँदम में सगीत का काल भी अछूता नहीं रह सकता। परिवर्तन के कारण कुछ भी क्यों न रहे हो मनुष्य के व्यवहार की अनुकूलता सबसे बड़ा कारण होता है। इन्हीं कारणों के आधार पर प्राचीन मार्गी तालों की व्यवहारिकता की प्रतिकूलता के कारण 7वीं 8वीं सदी से ही देशी तालों का विकास प्रारम्भ हुआ तथा 13वीं सदी में शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ सगीत रत्नाकर में मार्गी तालों के उल्लेख के साथ साथ देशी तालों का विस्तृत विवेचन किया। ‘सगीत रत्नाकर’ को मध्यकाल का सबसे प्रमाणिक एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ माना गया है।

“मुण्डे मुण्डे मतिमित्रा, तुण्डे तुण्डे च सरस्वती

इस कहावत के अनुसार लोक टांच की भिन्नता वह आधार है जो समय और परिस्थितियों के अनुसार किसी भी क्षेत्र में परिवर्तन लाती है। प्राचीन काल में सगीत मौखिक साधन माना जाता था। धीरे धीरे उसका प्रयोग उत्सव—कार्यों में होने लगा। उसके पश्चात् देशी सगीत के रूप में वह विकसित होने लगा। मध्यकाल के प्रारम्भ से ही देश की शिगड़ी परिस्थिति के कारण सगीत की नई नई शैलियाँ आदि में आश्रय मिलने लगी।

अति प्राचीन काल का ताल केवल एक निश्चित गति का चित्रण मात्र था। अमन ताल वाद्यों की विविधता तथा सम विषम ताल प्रकारों का विकास मानव रुचि का परिचायक है। इसी लोकरुचि के कारण तालों को वर्तमान स्वरूप प्राप्त हुआ है।

मध्यकाल से ही संगीत लारुचि के अनुसार तथा परिस्थिति के अनुसार दो अलग अलग धाराओं से विकसित होता रहा। एक मन्दिरों या मठों के आश्रय के माध्यम से तथा दूसरा राजाश्रय के माध्यम से। हम देखते हैं कि मध्यकाल में जितने भी प्रचकार या मणीतकार हुए वे मन्दिर मठों की सत परम्परा से अथवा राजे महाराजाओं के आश्रय से सम्बन्धित रहे हैं। मन्दिरों, मठों में जिस प्रकार का संगीत रहा उसके अनुसार वहाँ छोटे तालों का अर्थात् कम मात्रिक तालों का विकास हुआ तथा राजाश्रय में पनपे संगीत में राजा महाराजाओं के रुचि के अनुसार गीत प्रकारों में प्रयुक्त तालों का अधिक विकास हुआ। मन्दिरों में जिन गीत शैलियों का (भक्ति रस पूण) विकास हुआ उसने तिनके तदनु रूप तालों का निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। समान मात्रिक ताल होते हुए भी गीत के चजन या छन्द के अनपार समान मात्रिक विभिन्न तालों का निर्माण किया गया। उन्ही प्रकार राजाश्रय में पनपने वाले संगीत में भी समान मात्रिक तालों का (गीतों के स्वरूप तथा उनकी उपयोगिता की दृष्टि से) निर्माण हुआ। जैसे 8 मात्रिक तालों में बहुरवा धुमाठी अद्धा जत आदि समान मात्रिक अलग अलग तालों का निर्माण हुआ उन्ही प्रकार अवनद गायन के लिये खुले धाप में बजने वाले 12 मात्रा के चौताल तालका तथा समान 12 मात्रिक बंद बोलो के एक ताल का निर्माण अवनद गायकी के लिये किया गया। यह लोक रुचि के कारण ही हुआ। अथवा के चौताल ताल का स्थान स्थल गायन में लोक रुचि के आधार पर ही एकताल में ले लिया मात्रा खड, ताल, काल, त्रिधा आदि समान होते हुए भी चौताल के स्थान पर एकताल की लोकरुचि संगीत में परिवर्तन का कारण बनी।

प्राचीन काल तथा पूर्व मध्यकाल तक अवनद वाद्य का प्रयोग संगीत में रजकता एवं रस के निष्पत्ति के लिए किया जाता था। ताल धारणा ताल वाद्य से (जो घन वाद्य के अलगन आता था) अथवा गायक या वादक के साथ ताल त्रिधा धारक शक्ति (तालक) द्वारा ही जाती थी। कभी कभी तो स्वयं गायक ही अपने हाथों से ताल क्रिया सम्पन्न करता था। 14वीं शताब्दी से मार्गी एवं देगी तालों का भेद धीरे धीरे कम होता चला गया। मुस्लिमों के अधिपत्य के कारण भारतीय संगीत का पतन प्रारम्भ हो गया था। संगीत पर मुस्लिम सभ्यता का प्रभाव पड़ा। इसी काल में भारतीय संगीत में लय धारणा के लिये घन वाद्यों का स्थान अवनद वाद्यों ने लेना प्रारम्भ कर लिया होगा। इसका स्पष्ट कारण तथा समय ज्ञात नहीं हो पाया है। अवनद वाद्यों के उपर ताल के ठकी का प्रारम्भ 13वीं

14वीं सदी में ही हो गया था। 13वीं सदी में अल्लाउद्दीन खिलजी के दरबारी बजाकार अमीर खुसरो ने पशतो, बख्तवाली, जन, सवारी, आडाचारनाल, धूमरा आदि तालों का तथा उनके ठेको का आविष्कार किया। इन तालों का नामोल्लेख भी भारतीय संगीत के मत्कालीन या पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। ये ताल मुस्लिम तथा पश्चिम गीत प्रकारों के लिये निमित्त किये गये। चायद इसी के आधार पर इसके देखा देखी सुधीकणश (मधुकलदा) ने 14वीं सदी के पूर्वार्द्ध में 1 मात्रिक से लेकर 16 मात्रिक तालों का निर्माण कर उनमें से किही किही तालों के लिये 'निश्चित पाठवर्णों' के निर्देश दिये हैं, जिन्हें हम आधुनिक ठेका अथवा बोल कह सकते हैं।

तालके ठेके तथा उनका बादन प्रचार में आने के कारण तथा उनमें सगढ़ क्रिया (ताली) एवं निशद क्रिया (खाली) दशक बोनो का विकास होने के कारण गायक या वादक को ताल स्थान को समझने में सुविधा हुई होगी और इसी कारण चायद उत्तरी भारत में तालक तथा धन वाद्यों का अस्तित्व शास्त्रीय संगीत में धीरे धीरे कम होकर वर्तमान काल में नुप्त प्राय हो चुका है। युगम संगीत में धन वाद्यों का प्रयोग निरंतर वर्तमान काल तक बना रहा है। इसका प्रमुख कारण यह है कि युगम संगीत एक लोक संगीत में शास्त्रीय नियमों के बंधन से छूट होती है तथा यह संगीत सय-प्रधान संगीत होता है।

दक्षिण भारतीय संगीत में तालक का स्थान वर्तमान काल तक अशुण्य बन हुआ है तथा शास्त्रीय संगीत में अभी भी धन वाद्यों की संगत प्रातः की जाती है।

15वीं एवं 16वीं सदी में मुस्लिम प्रभाव के अलखरूप, मुगल बादशाहों तथा राजे रजवाड़ों के मनोरंजन के लिये संगीतकारों का राजाश्रय प्राप्त हुआ वह श्रु गारिक गीतों के प्रचलन के लिये प्रोत्साहित किया गया। इस कारण टुमरी, टप्पा ख्याल आदि के लिये बड़े तालों एवं गजल दादरा, सान्ना, कबवां आदि के लिये छोटे तालों का निर्माण होकर उन तालों का चलन अधिक प्रमाण में प्रारम्भ हुआ। लादी युग एवं वावर युग में ध गारिक गीतों के प्रचलन के कारण दादरा, केहरवा, रूपक, पशतो, दीपचदी, सवारी आदि तालों का प्रचलन अधिक होकर उनका विकास होता गया।

बीनपुर के बान्शाह सुल्तान हुसैन शर्की ने ख्याल गायकों को पूर से कम प्रमाण में थी उसे अधिक प्रमाण में प्रचलित किया। शर्की ने ख्याल गायन की समाज में अय गीत चलियों से महत्वपूर्ण बनाने में श्रेयस्कर काय किया। ख्याल गायन के लिये तिलवाड़ा, आडाचारवान, एकताल, धूमरा, तीनताल, जपताल आदि ताल अधिक उपयुक्त रहे तथा इनका प्रचलन समाज में प्रारम्भ हो गया ख्याल गायक के प्रचलन के अधिकता के साथ साथ इन तालों का भी अमश गम होता गया।

मुगलकाल के पूर्वाध में दक्षिण भारतीय संगीत अपनी प्राचीन परंपरा के आधार पर कुछ फेरबदल के साथ दम्पित्यमान होकर विकसित होता रहा जबकि उत्तर भारत में भारतीय संगीत अपने प्राचीन परंपरा से हटकर मिश्रित स्वरूप में अपनी आभा बिकीण कर रहा था। उत्तरी भारत में तालों के बिकास के दृष्टि से बड़ा एक और शास्त्रीय संगीत में बड़े तालों का प्रचलन प्रारंभ हो चुका था वहीं सुगम संगीत-मनित संगीत में छोटे तालों का प्रचलन प्रारंभ हो गया था।

बड़ा एक और ख्याल, ठुमरी, टप्पा आदि गायकी एवं उसके उपयुक्त तालों का प्रचार एवं बिकास हो रहा था वहीं प्राचीन गीत प्रकारों पर आधारित ध्रुवपद गीत शैली का निर्माण, प्रचलन एवं प्रसार तत्कालीन मुगलशासक शाहजहाँ मानसिंह तोमर ने किया। ध्रुवपद भारत में एक ओर अपूर्ण गायन प्रकार है जिसके माध्यम से और एवं शांत रस प्रधान गायकी का गायन किया जाता है। ऐसा कहा जाता है कि प्राचीन प्रबध गायन शैली के आधार पर ही जिसका खयालादि गायकी के कारण लीप सा हो गया था ध्रुवपद गायन प्रचार में लाया गया। ध्रुवपद के लिए अपने स्वरुपानुसार खुले बोल के ठके चौताल, सूलताल आदि प्रचार में आये। ध्रुवपद गायन में कई विद्यार्थ गायक उस समय हुए तथा कुछ समय तक ध्रुवपद गायन संगीत में छाया रहा। अद्वर और बहागोर के काल में थ गार रस प्रधान ध्रुवपद का प्रचलन भी प्रारंभ हो गया था।

17 वीं शती का काल भारतीय और मुस्लिम दोनों गीत प्रकारों को तथा संगीत प्रवृत्तियों को मिलाने का काल रहा। जिसका एक उदाहरण प दामोदर कृत ग्रंथ 'संगीत दण' है। शाहजहाँ संगीत प्रेमी शासक था। उसके काल में (1628-1658 ई) थ गार युक्त खयाल टप्पा ठुमरी, गजल के साथ साथ ध्रुवपद गायन शैली का भी अधिक प्रचलन रहा तथा खुले और बंध बोलों के तालों का बिकास हुआ।

औरंगजेब के काल (1658 ई. से 1707 ई.) में भारतीय शास्त्रीय संगीत का पतन हुआ। राजदरबारों में प्रचलित संगीत को ही उसने भारतीय संगीत समझ लिया और इसी कारण उसने संगीत पर प्रतिबन्ध लगा दिया। उसके मत से संगीत मुस्लिम धर्म के विरुद्ध था। औरंगजेब के समय के कारण यद्यपि शाही महलों में तथा मत्त रूप से संगीत का प्रचलन लगभग बन्द रहा तथापि इसी काल में अहाबल कृत 'संगीत परिभाषा' लोचनकृत-'रागतरंगिणी', भाचमट्ट कृत 'अनुपबिलास' आदि संगीत ग्रंथों की रचनाओं द्वारा संगीत का बिकास होता रहा।

संगीत पर प्रतिबन्ध के कारण संगीत, भक्ति संगीत तथा काव्य संगीत के रूप में बिसिद्ध होने लगा और छोटे छोटे तालों का सुगम संगीत के माध्यम से बिकास हुआ। दूसरी तरफ थ गार युक्त गायन शैली हल्की जाति के लोगों में प्रचारित होकर बड़ा उन गीतों के अनुकूल तालों का बिकास होता रहा। औरंगजेब के समय

से उसके मध्य उपरांत भी संगीत स्थानीय लोगों के रचि अनुसार बनवने लगा। बंगाल, गुजरात, उ प्र, महाराष्ट्र पंजाब, मध्यप्रांत में खालियर, आदि संगीत के किन्हीं के रूप में उभर कर सामने आये।

मुगलवर्ग के अंतिम बादशाह मोहम्मद शाह रंगीले (1719-1740) के शासन काल में भारतीय संगीत पुनः उभर कर सामने आया। इनके शासन काल में घोरी मियाँ ने मूरकियो छटको, छटको वाली टप्पा धात्री के गायन को सामने लाया। टप्पा जग से गाये जाने वाले गीत प्रकारों को टप्पाखयाल, टप्पा-टुमरो, टप्पा होरी आदि नाम दिए गये। इन गीत प्रकारों के कारण दीपचंदी, धमार सवारी, पंजाबी तथा टप्पे के ठेके का विकास भी इसी समय हुआ। भारतीय संगीत में फारसी संगीत का मिश्रण होकर नये नये रागों तथा गीतों की रचना हुई। टुमरी गीत का प्रचलन भी अधिक हुआ।

ब्रिटिश काल में अंग्रेजों ने भारतीय संगीत के प्रति कोई सहानुभूति नहीं बसाई। अंग्रेजों शासन के अंतर्गत छोटे छोटे राजे महाराज थे जिनके राज्यांग थोड़ा बहुत आश्रय संगीत को मिला। संगीत एक ताल भिन्न भिन्न प्रांतों में अलग अलग प्रकार से गाय बजाये जाने लगे। 19 वीं शताब्दी के अंत में बंगाल में एक अलग ही संघीत तथा तालों का प्रचलन हुआ। 19 वीं शती में ही कुछ विदेशी संगीतकारों द्वारा भारतीय संगीत एक तालों का सही मूल्यांकन किया गया। पूर्व में ये लोग भारतीय संगीत को तुच्छ समझते थे। इस काल में समाज में भी संगीत को उच्च स्थान प्राप्त नहीं था। 19 वीं शती तक भारत में अलग अलग प्रांतों में समान मात्राओं के कई ताल एक उसके ठेके प्रचार में आये तथा उही प्रकार अलग अलग तालपद्धतियाँ भी प्रचार में आईं। प्राचीन तालपद्धति पर आधारित ताल पद्धति दक्षिण भारत में सप्त मूलादि तालों के स रश्म में प्रचलित हुई। उत्तर भारत में नृगुनाथ वर्मा शंकरनाथ ठाकुर रवि रत्नाथ ठाकुर, मल आदि कई ताल पद्धतियाँ प्रचार में आईं तथा इनमें कई नये नये तालों का प्रादुर्भाव हुआ। उत्तर भारत के ताल लिपि पद्धतियों में पंजाबके एक पं पलुस्कर ताललिपि पद्धतियाँ प्रमुख हैं। वर्तमान संगीत में प्रयुक्त तालों की गीतों के अनुसार अंग्रेजों के अनुसार विभक्त किया जा सकता है—

- (1) धक्करद अंग के ताल — धोताल, सूलताल धमार तीजा आदि।
- (2) खयाल अंग के ताल — तिलवाडा, एकताल, झूमरा क्षपताल, आदि।
- (3) टप्पा अंग के ताल — पंजाबी, मध्यमान (पंजाब), अतताल आदि।
- (4) टुमरी अंग के ताल — दीपचंदी अडा, टुमरी अंग का क्षप आदि।
- (5) सुगम एक लोक संगीत— केहरवा बादरा रूपक, घुमाली, पदो, धड अंग के ताल आदि।

इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है परंतु गीतों के अंगों के अनुसार भी इनमें अंतर आता है। जैसे दीपचंदी, अडाखिताल, पंजाबी, अत आदि।

ताल का टप्पा एवं ठुमरी दोनों प्रकार के गीत शलिया के संगत म उपयोग किया जाता है। कुछ कुछ तालों की रचना यद्यपि विशेष गीत प्रकारों के लिए की गई होयी तथापि किसी गीत वाली के साथ संगत के लिए गीत के अंग के अनुसार ताल एवं ठेका वादन की स्वतंत्रता संगतकार को होती है।

शास्त्रीय तालों एवं उनके ठेको की यह एक और विशेषता है कि इनके प्रयोग लय के आधार पर पथक पुथक होते हैं। ध्यालगायन के संगत का 16 मात्रिक तिल वाद्य विलंबित लय का ताल है तो ध्याल गायन की मध्यलय के लिए 16 मात्रिक तीनताल का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार झपताल, मूलताल, रूपक, कैहरना, त्रिताल आदि मध्य एवं दतलय में। चौतान, मूलताम, एकताल, धमार झुमरा, तिलवाडा, पञ्चाशी आदि विलंबित एवं मध्यलय म ही अष्टे लगते हैं। कुछ ताल ऐसे भी है जो केवल विलंबित लय मे या मध्य लय म या दतलय मे अधिक उपयुक्त रहते है। कुछ ताल ऐसे भी है जिनका तीनों लयो म प्रयोग उचित रहता है।

उत्तर भारतीय संगीत का क्षेत्र काफी विस्तृत है। संगीत में प्रयुक्त राग व ताल समान होत हुए भी भावा एवं उच्चारण बल का गहरा प्रभाव तालों के ठेको पर पडा है। इसलिए एक ही मात्रा के ताल के विभिन्न रूप एवं ठेके प्रचलित है।

हम कह सकते है कि काल, स्थान एवं परिस्थिति के कारण संगीत में विभिन्न तालों का निर्माण, प्रचलन एवं विकास होता रहा है। वर्तमान काल में तालवादन का इतना विकास हो चुका है कि अबवद वाद्यों के एकाकी या स्वतंत्र वादन का प्रयास सा हा गया है। कुछ कुछ विद्वानों ने तबला तरंग वादन का प्रयास किया है तथा वह जारी है। मविध्य म तबला तरंग प्रचार मे आकर लोकप्रिय बन जाये तो अतिशयोक्ति नही होगी, क्योंकि उत्तर मध्यकाल तक तबले के एकाकी (स्वतंत्र) वादन का विचार भी किसी कलाकार के मन मे न आया होगा।

किसी भी कला के विकास का भाग अबरुद्ध नही होता। अत संगीत मे भी तालों के वादन के विभिन्न प्रयोग होंगे और उसका विकास निरंतर जारी रहेगा।



सुगम सगीत के तालो का विकास एव इतिहास

भारतीय सगीत का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। अति प्राचीन काल में सगीत की मोक्ष प्राप्ती के साधन के रूप में मायता प्राप्त थी। सगीत में लय वाद्यो का प्रयोग होता था तथापि लय वाद्यो का अर्थ व्यवहारों में भी प्रयोग किया जाता था। रामायण महाभारत काल में सगीत मीमंसा प्राप्ती के साथ साथ मनोरंजन के लिये भी प्रयुक्त होता था ऐसा रामायण, महाभारत ग्रंथों के उल्लेख से स्पष्ट होता है। भरी, दुदुभी, मदग, घट टिटिम, वीणा मुत्तक भादम्बर आदि वाद्यो का प्रयोग सगीत के साथ किया जाता था ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। महाभारती रावण सगीत का प्रकांड विद्वान था ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार महाभारत काल में श्री कृष्ण बंधो वादन में निष्णात थे तो अजुन सगीत, वीणा तथा मत्तग वादन में निष्णात था।

सगीत में सबप्रथम प्राप्त ग्रंथ भरत का 'नाट्यशास्त्र' है। इस ग्रंथ के 28 क्षे 33 वे अध्यायों में सगीत शास्त्र का विस्तृत विवेचन किया है। भरत ने वाद्यो अध्याय में (33/20-23) उत्सव, सोमायात्रा, मंगल अवसर, विवाह, पुत्र उत्सव और युद्ध के साथ साथ परैलू त्योहारों में किस प्रकार के ताल वाद्यो का प्रयोग करना चाहिये यह बताया है। इससे सिद्ध होता है कि भरत काल में सगीत केवल मोक्ष प्राप्ती का साधन मात्र नहीं था तथापि सगीत कुछ विशेष लोगों के लिये सीमित था। वे ही गायन वादन कर सकते थे।

आठवीं सदी तक सगीत का प्रचार आम लोगों में होने लगा था एव शास्त्रीय सगीत के अलावा देशी सगीत जो लोक रूचि के अनुसार था अधिक प्रचलित होने लगा था। 8 वीं सदी में लिखे गये मतंग के "बहुतृप्ती" ग्रंथ में आम लोगों के रूचि के अनुसार जो सगीत प्रचार में आया वह देशी सगीत ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। इस ग्रंथ में देशी सगीत के साथ प्रयुक्त तालों का यद्यपि उल्लेख नहीं है तथापि यह समझा जा सकता है कि मार्गी तालो के अतिरिक्त अन्य तालो का वादन देशी सगीत के साथ में होता रहा होगा जिसका विवेचन आगे जाकर धारणदेव ने अपने बहुत ग्रंथ 'सगीत रत्नाकर' में किया है।

प्रारंभिक सदी के प्रारम्भ से ही मुस्लिमों के आक्रमणों के कारण भारतवर्ष में स्थिति अशांत रही तथा सगीत का क्षेत्र शास्त्रीय रूप तक सीमित न रहकर वह समाज के सभी वर्गों तक फैलकर, देशी सगीत के रूप में विकसित होकर, लोक रूचि के अनुसार मंदिरों, मठों, समाजों, जातियों में फैल गया। कुछ कुछ राजाओं

के पास शास्त्रीय संगीत के मूल्यांकन बलाकार थे किंतु राजाओं की राजनैतिक स्थिति अछात होने के कारण संगीतों का आवृत्ति भी देशी संगीत की ओर होने लगा ।

13वीं सदी में धारगदेव ने "संगीत रत्नाकर" ग्रंथ की रचना की । इस ग्रंथ में देशी संगीत को परिभाषा करते हुए उल्लेख लिखा है (1 1/22 3) "भिन्न-भिन्न देशों (प्रांतों या राज्यों) के लोगों के रुचि के अनुसार मनोरंजन करने वाला गीत, वादन और नृत्य देशी संगीत कहा जाता है ।" धारगदेव आगे लिखते हैं कि "मार्गी संगीत में जिस प्रकार नियमों का सुष्ठुपालन किया जाता है वैसे देशी संगीत में नहीं होता । उन नियमों में निश्चितता होने पर भी यदि वह गायन रजकता उत्पन्न करता है तो वह देशी संगीत होगा ।"

देशी संगीत के साथ सुगमता से प्रयोग में लाये जा सकें तथा दत्त, सधु आदि के द्वारा लक्ष्य धारण कर देशी संगीत को रजक बना सकें वे देशी ताल कहलाते हैं । देशी तालों का विस्तृत विवरण करते हुए 120 देशी ताल धारगदेव ने बताये हैं । देशी तालों का आधार गणित या न कि गणित है । अतः इनमें सक्तिने ताल व्यवहार में आते हैं इसका स्पष्ट उल्लेख न करते हुए केवल इतना लिखा है कि "देशी ताल अनेक हो सकते हैं किंतु वे प्रचार में नहीं ।" (5/312) इससे स्पष्ट होता है कि जन जन में लोक रुचि के अनुसार गीतों के साथ सुगम तालों का अलग अलग प्रकार से वादन होता होगा ।

राजनैतिक पक्षाघातों के कारण तथा मुस्लिम संस्कृति की छाप पड़ने के कारण, उसी प्रकार मुस्लिम आदतों के रणिलेखन के कारण संगीत दो विधाओं में बंट गया । एक था शास्त्रीय रूप तथा दूसरा था सुगम रूप । शास्त्रीय रूप राग, विशेष स्वर, ताल आदि का नियम बद्ध गायन, वादन, व नृत्य था तो सुगम रूप में स्वर एवं तालों के नियमों में कुछ छूट थी जिससे जन जन का मनोरंजन हो सके ।

सुगम संगीत ऐसा संगीत होता है जिसमें राग स्वर एवं ताल के नियमों का निश्चित बंधन न हो जो गाने एवं सुनने में सरल हो तथा जिससे अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक परिमाण में मनोरंजन हो सके । सुगम संगीत में गायने वाले गीतों में श्र गार रस पूण वीर रस पूण, भक्ति रस पूण, मार्गलिक गीत आदि कई प्रकार के गीतों का समावेश होता है जो आम लोगों को आनंदित करके भाव विह्वल कर देता है । लोक संगीत, भक्ति संगीत, राष्ट्र गीत, श्र गारिक गीत आदि प्रकार के गीत जो रजकता में और समझने में सुगम हों सुगम संगीत के अन्तर्गत आते हैं । कुछ गीत एश भी होते हैं जो पूण शास्त्रीय आधार पर प्रस्तुत किये जाते हैं, तथापि उन गीतों का शास्त्रीय आधार स्पष्ट होकर गीतों की लक्ष्य की विविधता के साथ प्रस्तुत किये जाते हैं समझने व मनोरंजन के लिये सुगम हो जाते हैं ।

सुगम संगीत के कुछ गीत प्रकार

- (1) विवाहादि के समय गाये जाने वाले—घाँड़ी, बन्ना, माडव भात, गारी आदि ।
- (2) खेती जोतते समय—निधरी आदि ।
- (3) बच्चे के जनने के समय—जोहर आदि ।
- (4) विहार गीत—झूमर आदि ।
- (5) अथ—साबनी, आल्हा भाड चेली, कजरी आदि ।
- (6) भक्ति गीत —
भजन अभंग, कथा गीत, आदि ।
- (7) श्र गारिक गीत —
ठुमरी, टप्पा, दादरा छादरा, लावणी आदि ।
- (8) वीर (रस) प्रधान गीत —
पोवाडा, राष्ट्र गीत आदि ।

सुगम संगीत में या लोक संगीत में शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा वाद्य की ओर विशेषकर लय वाद्य की संगत अधिक होती है । सुगम संगीत में शब्दों के स्पष्ट उच्चारण के साथ साथ लयात्मकता का विशेष महत्व होता है । छोटे छोटे तालों का और उसके छोटे छोटे विभागों का निवाह अतिसुंदर प्रतीत होता है । तालों में लय के आधार रूप में विशेषकर दो भागों का (ताली दशक, छानो दशक) निर्वाह सुगम संगीत के तालों की विशेषता है ।

कभी कभी तो यह देखने को मिलता है कि सुगम संगीत में साथ लय वाद्यों का प्रयोग करने वाले वादकों को तालगास्त्र का विधिवत ज्ञान तक नहीं होता तथापि वे इतनी सु दरता से संगत करते हैं कि लोग उनकी संगत से आश्चर्य चकित हो जाते हैं । उन्हें (ताल वादकों को) यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान नहीं होता तथापि वे सुगम संगीत के साथ 2 मात्रिक, 3 मात्रिक, 4 मात्रिक या 2 3, 3 4 मात्रिक कालखंडों का निर्वाह इतनी उत्तम लयात्मकता से करते हैं कि कभी कभी अच्छे अच्छे तालगास्त्र वादक भी बाह बाह कर उठते हैं । इससे सिद्ध होता है कि सुगम संगीत लय प्रधान गायकी है ।

सुगम संगीत में बजने वाले तालवाद्यों में घन तथा अवनद्ध दोनों वाद्यों का प्रयोग होता है । प्रत्येक गीतकी अलग अलग लयात्मकता होती है । दो अलग अलग समान मात्रिक खंडों एवं तालों में गाये जाने गीतों में एकही प्रकार के बोलों के निर्वाह एवं वजन में अंतर होता है । उसी प्रकार विशेष गीत प्रकारों के साथ विशेष लय वाद्य का प्रयोग अपना महत्व रखता है । जैसे आल्हा व पाग में ढोलक, मोटकी म नकार, तमाशा में ढोलकी आदि ।

मगम सगीत या लोक सगीत में बजने वाले घन वाद्य

डकिया, घड़ियाल, थाल, ताल, पाज, टिकिर, मजोरा, करताल, रमझोल,

मुखवण घुंघरू चिमटा, तुनतुना आदि ।

सुगम सगीत या लोक संगीत में बजने वाले अवनद्ध वाद्य

सबजा, चंग डोलक, डोलकी, घैरा, डफ, खजरी, मादल, गुमका, नाल,

डमरू, दमामा, धोसा, डरु, नगाडा, तोसा, ढाक, घट, सम्बल, आदि ।

सुगम सगीत में बजने वाले ताल

सुगम सगीत में आने वाले गीत प्रकार एवं उनके साथ प्रयुक्त तालवाद्यों का

अध्ययन करने के बाद यह देखना जरूरी हो जाता है कि प्राचीन काल से वर्तमान काल तक इन वाद्यों में बजने वाले तालों का क्या क्रम रहा है। नाटयशास्त्र के वाद्यध्यायमें उत्सवगीत, मगसगीत, विवाहगीत आदि में अलग अलग प्रकार के तालवाद्यों का वाचन का उल्लेख (33/20 23) किया गया है। भरतने गीतों के पंक्तियों के साथ में लिखा है कि जो निश्चित ताल, छंद स्वर, आदि में पूर्ण नियम बद्ध होते हैं वे ध्रुवाएँ हैं अथवा गीत ध्रुवाएँ महा तथापि ये गीत रजक हो सकते हैं।

हम देखते हैं कि नाटयशास्त्र में काल के विभाग को ताल कहा है तथा सगीत में समय परिमाणक कला या दस ताल का व्यवहार बताया है। पाँच विभेद काल को मात्रा कहा है। मात्राओं के आधार पर एक मात्रिक, द्विमात्रिक, चार मात्रिक, आठमात्रिक कला होती थी। चञ्चत्पुट = 8 मात्रा, चाचपुट = 6 मात्रा ये मुख्य चतुरस्र और त्रयस्र जाति के दो ताल बताये हैं। चञ्चत्पुट के खड 2, 2, 1, 3 इस प्रकार तथा चाचपुट के खड 2, 1, 1, 2 इस प्रकार बताये हैं। भरत ने खड और मिथ तालों का भी उल्लेख किया है। तालों के एक-एक स्वरूपों के वाचन में सगद्य और निषद्य क्रिया के आधार पर उनके प्रकार भी बताये हैं। नाटय में आधारित तथा पाणिकादि गीतों में अलग प्रकार से एक ही ताल का वादन होता था (31/14 18)। मिथ्र धानि के ताल जो 5, 7, 9, 10, 11 मात्रिक होने पर ये गीत कथं वा स सम्बन्धित बताये हैं। मिथ्र तालों का प्रयोग शास्त्रीय वादन के छन्द गीतों (ध्रुवाणि प्रकारों) में नहीं होता था, तथापि इनका उपयोग प्रवृत्त आदि में होता था। (31/45 46)

यद्यपि भरत ने तालों के देशी स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि मुख्य मार्गी ताल 3 प्रकार का बताकर अन्य मिथ्रताल मार्गी सगीत (ध्रुवाया) का अनुपयुक्त बताया है। इनके उपयोग की अस्वीकार नहीं किया है। ताल वाद्य का वादन के दृष्टि धाम्य बताया है जिसके अनुसार ताल वादन (यहां तालवादन का यह मानो वा निर्वाह) अत्रर (लघुपुट) सम, अग सम (गीत के अग के अनुसार) तालसम लम सम यतिमम, प्रहसम, यथोप यात सम, पाणिसम, यथाया २। अटारह जातियों के अनुसार तान वाचन देग, स्थिति, रस क आदि का अनुसंधान था एसा भी उल्लेख किया २।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भरत का 2 मी 2 मात्रिक, 3 मात्रिक, 4 मात्रिक (बला के) तालों का प्रयोग और मिश्र मात्रिक के 5, 7, 9, आदि मात्रिक (बला के) तालों का प्रयोग होना था तथा विभिन्न समयों जैसे उत्सव, सोमायात्रा, मंगल अक्षय, विवाह, पुत्र प्राप्ति आदि में गाये जाने वाले गानों के साथ इन तालों का वादन होता था। इस प्रकार 4 गीतों को हम सुगम संगीत के अत्यंत मानकर प्रयोग में आनेवाले तालों को मुगम संगीत के अत्यंत मान सकते हैं। भरत काल में ताल के ठेके होने का कोई उल्लेख नहीं है। वर्णोच्चारण भेद जोरभार (वजन) भेद, अंगभेद के अनुसार पाठाक्षरयुक्त वाचन होता था। इसमें स्पष्ट होता है कि भरतकाल में भी शास्त्राक्त के अथवा गीतों में लयात्मक आधार पर ताल वादन होता था।

भरत काल के बाद शारंगदेव के काल (13वीं सदी) तक तालों के मार्गों तथा देशी प्रकार स्पष्ट हो गये तथा 120 देशी तालों का विवरण शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' में दिया है। उसके पूर्व ही मनगन देशी गायन वाचन का देशी देशों के रुचि व माग (लक्षण) के अनुसार ऐसा उल्लेख किया है। इससे यह लगता है कि मार्गी ताल वाद्य वाचन भी देशों देशों के गीतों के माग अनुसार होता होगा।

शारंगदेव ने भिन्न भिन्न देशों प्रांतों, राज्यों के लोगों की स्थिति तथा रुचि के अनुसार प्रयुक्त संगीत को देशी संगीत कहा है जो लोगों का मनोरंजन करता हो। इस देशी संगीत के अनुसार बजने वाले ताल देशी ताल कह जाते थे। 120 देशी तालों में से कोई भी ताल अथवा अल्प ताल भी लोगों के गीत प्रकारों के अनुसार प्रयुक्त हो सकते थे। विभिन्न प्रांतों के भेदों के वर्णोच्चारण के कारण गीतों के निश्चित मात्रिक तालों के आश्चर्य के खंडों और वजन में अंतर सम्भव था। इसी कारण समान मात्रिक अनेक तालों का उल्लेख शारंगदेव ने किया होगा। माया भेद वर्णोच्चारण भेद गीत का वजन आदि के कारण भिन्न भिन्न प्रांतों में कई समान मात्रिक भिन्न भिन्न ताल प्रयोग में आते रहे होंगे। शारंगदेव ने उल्लेख किया है कि उसने भिन्न भिन्न प्रांतों के विद्वानों से संगीत ज्ञान प्राप्त कर तथा विचार विमर्श के इस 'रत्नाकर' ग्रन्थ की रचना की है।

तब के ठेके का स्वरूप, भाषा के वर्णोच्चारण गीतप्रकार छंद प्रकार आदि पर निर्भर रहा होगा और भिन्न भिन्न प्रांतों में भिन्न भिन्न तालों के भिन्न भिन्न ठेकों प्रयोग में आते रहे होंगे। इसी कारण शारंगदेव ने रत्नाकर में तालों के ठेकों का उल्लेख नहीं किया है।

ताल वादन के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में तालों के ठेके नहीं हैं और समान मात्रिक अलग अलग लघु गुरु आदि पर आधारित अलग अलग छन्दों वाले काल बताये गये हैं। कई ग्रन्थों में एक ही ताल के अलग अलग ठेके प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि कलावती ने छंद के आधार पर गीत के उच्चारण के अनुसार ताल ठेकों का निर्माण किया होगा और बाद में उस ठेको को मायता प्राप्त

होकर बहु परम्परा में आ गया होगा। हम देखते हैं कि सुगम सगीत के साथ साथ 2 2, 3 3, 4 4, अथवा इनके मिश्रण से 2 3, 2-3/3 4, 3 4 आदि मात्रिक तालों का प्रयोग ही अधिक देखने को मिलता है। सुगम सगीत में बजने वाले ताल 16 मात्रिक तालों से अधिक सम्भव नहीं होते हैं। शारंगदेव ने गीतों के रागाग मापाग, क्रियाग और उपाग प्रकार के देशी गीतों के सम्बन्ध में कहा है कि "भाषा, उच्चारण, मनुष्य के क्रियाकलाप तथा प्रयुक्त रागों के आधार पर बने देशी गीतों में वास्तविक नियमों से विचित्रता लाकर गीतों को मनोरंजक बनाया जाता है"।

देशी प्रकार देशी ताल जो देशों देशों के गीतों के साथ बजते थे नियमों के अग्रण से विचित्र थे। शारंगदेव ने देशी सगीत (जिस हृदय सुगम सगीत कह सकते हैं) में कम सख्यावाले तथा छोटे छोटे खड वाले तालों में आवश्यकतानुसार ऋतादि प्रयोग करके कम मात्रिक तालों को भी स्पष्ट किया है।

शारंगदेव ने पूर्व के कुछ आचार्यों ने (सोमेश्वर, पाद्मदेव, अभिनवगुप्त आदि) भी देशी तालों का उल्लेख किया है। शारंगदेव ने देशी गायन प्रकारों में अक्षर सख्या काल के अनुसार, मात्रा सख्या तथा यति के अनुसार खण्ड बनाकर तालों का वादन बताया है। देशी सगीत (सुगम सगीत) के लिए उपयुक्त ऐसे कुछ ताल जो सरल थे —

- | | | | | |
|---|--------------|-------|-------------|--|
| 1 | (1) आदिताल | 1— | 1 मात्रा | एकमात्रिक आघात से लय धारणा के लिए एक मात्रिक खड का ताल। |
| 2 | (2) द्वितीयक | 0 0 | — दो मात्रा | दो मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए दो मात्रिक खड का ताल। |
| 3 | (7) त्रयक | 0 0 8 | — तीनमात्रा | तीन मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए तीन मात्रिक खड का ताल, |
| 4 | (57) चतुष्पण | 1 1 5 | — चारमात्रा | चार मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए चार मात्रिक, खण्ड का ताल |
| 5 | (58) ढेकी | 5 1 5 | — 5 मात्रा | पाच मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए पाच मात्रिक खड का ताल। |

इस प्रकार 1 1, 2 2, 3 3, 4 4, 5 5 इस प्रकार से छोटे छोटे खण्डों के अन्तर्गत छोटे छोटे तालों का प्रयोग देशी गायन के लिए सुगमता से सम्भव था।

समान मात्रावाले परन्तु अलग अलग खड वाले तालों को भी शारंगदेव ने बताया है जिनका उपयोग देशों देशों के अलग अलग समान मात्रा के गीत प्रकारों के उच्चारण बल एवं खण्डों के अनुसार उन तालों का वादन सुलभ था।

जैसे—

(1) 6 मात्रिक ताल —

रति—1 1 8, कल्प 2 0 1 5 5, श्रीकृति 5 5 1 1 आदि।

होने पर भी उनमें गीतों के बजन, उच्चारण तथा भावा के भेद के कारण अग एव ठेके में अंतर हो जाता है अर्थात् गीतों से अधिक से अधिक रजकत्व प्राप्त करने के लिये तालका अलग अलग प्रकार से वादन होता है। कुछ प्रचलित ताल इस प्रकार हैं :—

- | | | | | |
|-----|-----|-------------|---|--|
| (1) | —6 | मात्रिक ताल | — | दादरा, सेमडा, नकटा, गरवो। |
| (2) | —7 | मात्रिक ताल | — | रूपक, परतो तोया। |
| (3) | —8 | मात्रिक ताल | — | केहरवा, घुमाली अडा, जत, कश्माली। |
| (4) | —10 | मात्रिक ताल | — | अपताल सप, मूलताल, सूरफ टता या मूलफाटता। |
| (5) | —12 | मात्रिक ताल | — | कनाल, चौताल। |
| (6) | —14 | मात्रिक ताल | — | घमार, दीपवनी, चाचर, झूमरा आडाचारता फरोदस्त। |
| (6) | —16 | मात्रिक ताल | — | त्रिताल तिलवाडा पचावी बडी सवारी, बडो दीपवनी। |

कुछ लोग केहरवा ताल को चार मात्रिक बताते हैं। अतः चार मात्रिक केहरवा समान अतः ताल भी मान्य करते हैं। 6 मात्रिक तालों का वादन दादरा, सादरा, भजन शोकगीत आदि गीत प्रकारों के साथ अलग अलग बोल एवं बजन से किया जाता है। 8 मात्रिक तालों में केहरवा कई गीत प्रकारों के साथ तुमाली अथवा भजन के साथ क वाली ठका क वाली के साथ, अडा लावगी आदि के साथ बजाया जाता है। कई बार एक ही ताल के ठेके के बोलों का बदल कर बजाया जाता है जिसमें सुगम संगीत की रजकता बढ़ती है। सुगम संगीत में प्रयुक्त तालों के सम्बन्ध में निम्न तथ्य सामने आते हैं।

- (1) 16 मात्रा से अधिक दीघ अथवा चार मात्रा से छोटे ठेकों का आवनत सुगम संगीत में मनोरजक नहीं होता।
- (2) 8 मात्रिक सम्बाई नक के ताल सुगम संगीत में अधिक प्रचलित है।
- (3) विषम मात्रिक की अपेक्षा सममात्रिक ताल तथा तालखंडों के ठेके अधिक सोकाभिमुख होते हैं।
- (4) विषम मात्रिक खंड वाले तालों का विशेष रजकत्व होता है।
- (5) दीघ मात्रिक तालों को अडा बनाकर वादन की प्रथा है जिससे पूरा दीघ मात्रिक की अपेक्षा रजकत्व बढ़ता है।
- (6) ताल के ठेके का भिन्न भिन्न प्रकारों से वादन होता है।
- (7) ठेके के बोलों को दुगुनी चौगुनी गति में वादन कर तिहाई लेकर सम पर आने से रजकत्व बढ़ता है।
- (8) जिस ठेके का स्वरूप सांख्यिक से एक समान होता है वही यवहार में अधिक आता है।

- (9) ताल एक ही होने पर गीत प्रकारों के अनुसार ठके बलम बलम बजते हैं । इन ठके का बजन गीत के अर्थ के अनुसार होने से वे लोकप्रिय तथा रञ्जक होते हैं ।
- (10) सुगम संगीत के साथ बजने वाले तालों का, दो विभाग बनाकर (ताली-छाली) बान्न अधिक रञ्जक होता है ।
- (11) सुगम संगीत में बजने वाले ताल के बोलों पर जोर संगीत के उच्चारण के अनुसार होता है ।
- (12) कई तालों में छाली नहीं होती तथापि सुगम संगीत में उसके ठके को दो विभागों में विभाजित कर अथवा एक बार ताली दसक, बोलों से तथा दूसरी बार छाली दसक बोलों से वादन किया जाता है ।
- सुगम संगीत में ठके का वादन गीत प्रकारों के अनुसार नये तुले बदिस में होने से ही रञ्जकत्व प्राप्त होता है । इस आठ माना के ठके का भजन, कीर्तन, गीत, लोकगीत, लावणी, नाट्यगीत, अमग, आदि प्रकारों के साथ वादन होने के कारण (एक ही) ताल के विभिन्न रूप या ठके प्रचार में आये।



नाट्यशास्त्र और रांगीत-रत्नाकर में वर्णित अवनद्ध वाद्यो का विस्तृत परिचय

भारतीय संगीत एवं अवनद्ध वाद्यो का इतिहास प्रागतिहासिक काल से प्रारम्भ होता है। मानव को स्वप्रथम (स्वयं गानकी अवेगा) सय का ही ज्ञान हुआ था। प्रागतिहासिक एवं वैदिक काल से ही समन्वित तालवाद्यो का उल्लेख हमें प्राप्त होता है किन्तु उन वाद्यो की बनावट तथा उनका वाद्यन संबंधी विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं है। शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त सबसे प्रथम अवनद्ध वाद्य के रूप में मृग का ही उल्लेख मिलता है। भरत मुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' यह प्रथम भारतीय शास्त्रीय संगीत में इतिहासिक दृष्टी में सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। इस ग्रंथ की रचना के सम्बन्ध में तथा समय के सम्बन्ध में संगीतशास्त्रियों में मतभेद है तथापि प्राप्त जानकारी व आधार पर हम ग्रंथ का रचनाकाल दूसरी तीसरी सदी माना जाता है। इस ग्रंथ के 33 वे अध्याय (अवनद्धातोद्य विद्यानाध्याय) में अवनद्ध वाद्यो के उत्पत्ति, बनावट, वाद्यन एवं अन्य आवश्यक परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन किया है। भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में जिन वाद्यो का उल्लेख एवं वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं —

पुष्कर मडल, मृग, पणव, मृदुर, भूमिदुदुभी, दुदुभी इत्येते पटह।

भरत के बाद दूसरा महत्वपूर्ण संगीत ग्रंथ शारंगदेव कृत 'संगीतरत्नाकर' है। इस ग्रंथ का रचना काल 13 वीं सदी माना जाता है। भरत तथा शारंगदेव के बीच के काल में कई आचार्यों ने ग्रंथों की रचना की किन्तु उन ग्रंथों में तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' में उल्लेखित विचारों में विशेष अंतर नहीं था। शारंगदेव ने समयानुसार अपने ग्रंथ में पार्यों एवं देगी संगीत तथा तालो का विस्तृत विवेचन किया है तथा निर्भीकता से स्वतंत्र विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ के पांच वे अध्याय में ताल का तथा छठवें अध्याय में वाद्यो का विस्तृत विवेचन किया है। मार्गी संगीत एवं देगी संगीत के लिए उपयुक्त एवं उस काल में प्रयोग होने वाले जिन अवनद्ध वाद्यो वर्णन किया है वे इस प्रकार हैं। पटह, मडल, (मृग, मुरग), टुडुका, करटा, घट, डवस, डवक, कुडुवा, बरस रजा डमरक, मडिडवका, डवतुली, सेवतुका, इत्येते, भाण, त्रिबली, दुदुभी, भेरी, निस्ताण, सुम्बकी।

नाट्यशास्त्र में एक संगीत रत्नाकर में वर्णित कुछ वाद्य समान हैं किन्तु संगीत रत्नाकर में कुछ अलग वाद्य हैं जिनका नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं है। इसके

यह प्रमाणित होता है कि गारग्येव काल में संगीत अधिन विकसित हो चुका था ।

(1) पुष्कर —

नाट्यशास्त्र में भरत ने पुष्कर वाद्य का विस्तृत विवेचन किया है । इस वाद्य के उद्गति के सम्बन्ध में भरतमुनी लिखते हैं —

“कसी अनन्याय क दिन जब आकाश में बादल छाये हुए थे तभी स्वाति मुनि जन राने के लिए एक सरोवर पर गये । जब सरोवर में जल लेने उतरे तो (इन्द्र ने पत्नी की एक उड़ा सागर बना डालने के लिए) जोरो स मूसलाधार वष्टि आरम्भ हुई । तब उस सरोवर में वायु वगैरे गिरनेवाली मेघावृष्टि जलबूदों के द्वारा (सरोवर के) कमल पत्रों पर जोरदार एवं मधुर ध्वनियों का (भिन्न भिन्न) निर्माण होने लगा । तब मुनि ने सहसा इस अप्रूप ध्वनि को सुनते हुए (जो वर्षा की बूदों से उद्घटित थी, एक आश्चर्य मानकर) उस पर ध्यानपूर्वक विचार आरम्भ किया । पत्ता पर होने वाली उस सुन्दर और हृदयप्राही ध्वनि के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ प्रकारों के विभाजन का गभीरतापूर्वक विचार करते हुए अपने आश्रम को छोड़ आये । आश्रम में लौटकर त्रिविक्रमा की सहायता से मुनि ने मृदंगों का, और फिर शृङ्गार, पद्मक और दन्त वाद्यों का निर्माण कर डाला । फिर देवगणों के दुदुभी वाद्य को देखते हुए मरत्त आश्रित्य, आकिक, उध्वक जस वाद्यों का निर्माण किया (33/3 से 11) पुष्कर वाद्य का मुनि ने अलग अलग अर्थों में उल्लेख किया है । पुष्कर का मन्त्र क रूप में पुष्कर का वामपुष्कर एवं दक्षिण पुष्कर कहकर बाये एवं दाये मुख के रूप में एवं मन्त्रल मुरबका भी पुष्कर रूप में उल्लेख किया है । इस कारण वास्तव में पुष्कर वाद्य क्या था यह स्पष्ट नहीं हो पाता है । तथापि ‘त्रिपुष्कर’ के रूप में भरत ने जिन तीन अवनद्ध वाद्यों का वर्णन किया है उसमें उन तीन मन्त्र प्रकारों जो भरत ने बनाये हैं—हरीतकी (यवावृत्ति), गापुच्छावृत्ति का वर्णन प्राप्त होता है । ये तीन वाद्य आकिक (हरीतकी), उध्वक (यवावृत्ति) तथा आश्रित्य (गोपुच्छावृत्ति) थे । इन तीन अथवा इनमें से दो वाद्यों का वर्णन माजना के अनुसार एकसाय किया जाता था । इन (त्रि) पुष्कर वाद्यों का वर्णन इस प्रकार है —

(अ) आकिक —

यह वाद्य बतमान के मदन या पखावज के अनुसार होकर ससे भी लिटाकर बनाया जाता था । यह अधिकतर लकड़ी का बनाया जाता था । भरतकाल में मदन प्राणी के भी अने होते थे । इसकी लम्बाई 3½ विनात होकर यह मध्य में अधिक चौड़ा रहता था । बीच में स खोखला होकर इसके दो मुख होते थे । दोनों मुखों का व्यास 12 अंगुल होता था ।

दोनों मुखों पर चमड़े (पुही) मटे रहते थे । यह चमड़ा गाय या बल का शीपरहित, मधुर चमकदार होता था । पुही व चमड़ों में छेद करके सोरो या बत्ती को इनमें स डालकर दोनों पुहियों को बसा जाता था । बत्ती की दो के बत्ती तीसरी

को बीच में से निकाला जाता था। डोरिया सध्या में 10 होती थी। नये आकिक वाद्य के पुडो (चमड़े) पर गाय के घी के साथ तिल को पीसकर उस मसाले का लेपन किया जाता था। आकिक के दोनों मुखों पर आवश्यकतानुसार अलग अलग स्वर स्थापना की जाती थी। इसके साथ ही उध्यक के ऊपर आकिक के स्वर स्थापना के आधार पर स्वर स्थापना की जाती थी जिन्हें माजना कहने थे।

(ब) उध्यक —

यह वाद्य भी लकड़ी का बना होकर बीच में से खोखला होता था। इसके एक ही मुख होता था। इसको खड़ा रखकर बजाया जाता था। इसकी ऊंचाई 4 बिलात तथा मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। वर्तमान वाद्य के अनुसार इसके मुख पर लगे चमड़े (पुडो) को डोरी से कस दिया जाता था। पुष्कर वाद्य के स्वर स्थापना में इसकी यह विशेषता थी कि इसे पंचम स्वर में मिलाया जाता था। अथ बनानट चमड़ा लेपन आदि आकिक के अनुसार ही होती थी।

(स) आलिग्य —

यह वाद्य भी लकड़ी का बना होकर बीच में से खोखला होता था। इसके एक ही मुख होकर इसे खड़ा रखकर बजाया जाता था। इसकी ऊंचाई 3 बिलात तथा मुख का व्यास आठ अंगुल का होता था। इसके ऊपर चमड़े की पुडो लगाई जाती थी जिसे (वाद्य के अनुसार) डोरी या धागे से कस दिया जाता था। इस वाद्य के खज स्वर में मिलाया जाता था। अथ बनानट चमड़ा डोरी, लकड़ी लेपन आदि आकिक के समान ही होती थी।

शारंगदेव ने भरत कालीन पुष्कर वाद्य को अध्येहारिक बताकर इसका वर्णन नहीं किया है। (रत्नाकर 6/1027)

(2) मद्ग —

भरत ने अपने ग्रंथ में (नाटयशास्त्र में) मद्ग का अलग वर्णन न करके त्रिपुष्कर के रूप में वर्णन किया है। भरत कालीन आकिक वाद्य (मद्ग) शारंग देव कालीन मद्ग तथा वर्तमान मद्गम या पखावज के समान ही था। अतः भरत कालीन आकिक के वर्णन को हम मद्ग का वर्णन ही कहेंगे।

शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर के वाद्याध्याय (6 वा अध्याय) के श्लोक 1026 में मद्ग को ही मद्ग तथा मुरज कहा है।

(3) मद्दल —

'रत्नाकर में मद्दल का विवेचन (6/1019 से 1029) विस्तृत रूप में किया गया है। इसकी लकड़ी बीज के वृक्ष की होती थी। यह ठीक से पकी तथा निर्दोष होती थी। लम्बाई 21 अंगुल होकर मद्दल का अथ (खोड) बीच में से खोखला होता था। दो मुख होकर मुख पर लकड़ी की मुटाई $\frac{3}{4}$ अंगुल की होती थी। दाहिने मुख का व्यास 13 अंगुल तथा बाये मुख का व्यास 14 अंगुल होता था। बीच के भाग का व्यास मुखों की अपेक्षा थोड़ा बड़ा रहता था। दोनों मुखों

पर उनकी ध्यास की अपेक्षा 1 अगुल बड़ी चमड़ी जो पकी तथा निर्दोष होती थी मुखों को ढकने के काम लाई जाती थी। इन चमड़ियों के किनारों पर 1-1 अगुल की दूरी पर 40 छेद किये जाकर, दोनों चमड़ियों को इन छेदों में से डाले गये धारियों से आपस में कसकर अग के दोनों मुखों पर बांध दिया जाता था (वर्तमान पञ्चावत्र के समान)। राख को भात में मिलाकर बिकनी लुग्नी तैयार की जाती थी। इस लुग्नी का 2/3 भाग लेकर उसका पूड़ी के आकार में बाये मुख (चमड़ी) पर बीचो बीच (वर्तमान स्याही के समान) विलपन किया जाता था तथा शेष 1/3 लुग्नी का विलेपन इसी प्रकार दाये मुख पर किया जाता था।

(4) प्रणव —

प्रणव भी भारत का अति प्राचीन अयनद वाद्य है। कुछ ऐसे तथ्य प्राप्त होते हैं जिससे कि प्रणव को बहिक कालीन वाद्य समझा जा सकता है। प्रणव का वर्णन पारसदेश के ग्रन्थ सगोत रत्नाकर में नहीं है। महर्षि भरत ने मन्त्र के बान् अयनद वाद्यों में प्रणव को ही महत्त्वपूर्ण वाद्य बताया है। प्राचीन संस्कृति साहित्य में प्रणव का उल्लेख पर्याप्त मात्रा में हुआ है। वाल्मिकी रामायण के सु ब्रह्माण्ड (11-43) और शुद्ध काण्ड (44-92) उसी प्रकार महाभारत के अरण्यपर्व (132/19) तथा आश्रितपर्व (7/16) में प्रणव वाद्य का कई स्थानों पर उल्लेख है। महर्षि भरत ने तो इस वाद्य की रचना स्वाति मुनि द्वारा बनाई है। इस प्रकार प्रणव की प्राचीनता मदन के समान सिद्ध होती है।

महर्षि भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र के अध्याय 33 श्लोक 247-249 में प्रणव की रचना (बनावट) का विवेचन किया है। इसके अनुसार प्रणव की सम्बाई 16 अगुल थी। यह लकड़ों से बना होकर बीच में से खोजला रहता था। इसके दो मुख होकर उनका ध्यास 5 अगुल रहता था। खोद के बीच का व्यास 8 अगुल होता था खोद को पोला करने के बाद मुखों पर काठ की मुटाई 1/2 अगुल होती थी। खोद बीच में से 4 अगुल ध्यास में पोला रहता था। प्रणव के दोनों मुखों को दारौक, शुद्ध साफ चमड़ी द्वारा ढक दिया जाता था। इन चमड़ियों में छेद करके दोनों मुखों की चमड़ियों को सूत की डोरी द्वारा आपस में कसकर बांध लिया जाता था। इन डोरियों का बंधन इस प्रकार किया जाता था कि इहे ऊँचे या नीचे स्वर के अनुसार बजाने के लिये तनाव या ढील मिल सके। महर्षि भरत के अनुसार प्रणव पर निम्नलिखित वर्ण निकाले जाते थे — क, ख, ग, ट, ण, द, वा, हे, र, ल, कु, लि, ल, ध, ण, कि, रि, रिण।

प्रणव में प्रयुक्त होने वाले अक्षर बोलो या बोल समूहों के वादन के सम्बन्ध में भरत ने कहा है कि बड़ी हुई सुतलियों को बाय हाथ से कसकर या ढीला करके दाहिने हाथ की तजनी, अनामिका कनिष्ठा अंगुलियों द्वारा विभिन्न बोलों का तथा बाय समूहों का वादन किया जाता था। सुतली को बाय हाथ के दबाव एवं कसाव के बान् दाहिने हाथ से क, ख, ल तथा ढील देने पर ल, ध वर्ण निकलते थे। भरत ने उत्तम प्रणव वादक के गुण भी बताये हैं।

(5) हुडुक्का या आवज —

महावि भरत द्वारा उल्लेखित पणव वाद्य को देखने पर लगता है कि पणव ही भरत काल के बाद आकार परिवर्तन से आवज या हुडुक्का कहलाया।

जायसी वृत्त पत्रमावत के "सत्रीवनी भाष्य" में डा वासुदेव शरण ब्रह्मवाल आवज की उत्पत्ति आतोद्य से बताते हैं। 'नाटयशास्त्र' में आलोच का उल्लेख हुआ है। सगीत रत्नाकर में धारणा ने स्पष्ट लिखा है कि हुडुक्का को ही जानकार आवज या स्वधावज कहते थे। आवज बजाने वाले को आउच तथा हुडुक्का बजाने वाले को हुडकिमे कहते थे। कुछ विद्वान हुडुक्का और आवज को अलग वाद्य मानते हैं। 'आइने अकबरी' में आवज को हुडुक्का का पर्याय माना है। प्राचीन अलग अलग समय के ग्रंथों में इसका आवज तथा हुडुक्का नाम से उल्लेख मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि अलग अलग काल में इन वाद्य का अलग अलग नामों से प्रचार रहा होगा। आइने अकबरी में लिखा है कि आवज या हुडुक्का गसा दिखता है जैसे दो मक्कादे पेंदे की ओर स आपस में जोड़ लिये गये हों। 'सगीत रत्नाकर' में इस वाद्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

हुडुक्का वाद्य की लम्बाई 1 हाथ (लगभग 1 $\frac{3}{4}$ फुट) तथा अग का व्यास 28 अंगुल का था। यह मदल समान सक्की के खोड से बनता था जो बीच में से कम व्यास का होता था। खोड बीच में से खोखला होता था। दो मख होते थे तथा मुखों पर लकड़ी की मुटाई 1 अंगुल होती थी। दोनों मुखों का व्यास 7 अंगुल होता था तथा मुखों पर मड जान वाले चमडों का व्यास 11 अंगुल होता था। दोनों मुखों पर उठ हुए चमडी भाग (गजरा) की ऊंचाई मुख से लगभग 1 $\frac{1}{2}$ अंगुल उठी रहती थी। यह उठा हुआ भाग (गजरा) बली (बारीक चमडी की पट्टियों) से तयार किया जाता था। इस प्रकार तयार कडे (जो पुडो के चमडो से बंधे हों) या गजरे में ठेके होते थे। इन में से डोरी या वादी डालकर दोनों मुखों को कसा जाता था। वाद्यको ठीक तरह सतह पर रखने के लिये अग्रभाग में 3 तथा पिछले भाग में 2 एसी 5 अंगुलाएँ (लकड़ी की पट्टिका) होती थी। वाद्यने की डोरी के मध्यभाग में (उदर पट्टिका की लम्बाई 3 अंगुल बताई है। बत्तीस तनुओ से या डोर से बनी डोरी दोनों मुखों की उपरी भाग में इस प्रकार बांधी जाती थी जिससे कि वह दोहरी स्वध पट्टिका बन सके। हुडुक्का के खोट में 1/4 भाग छोड़कर 3/4 अंगुल मुटाई के छेद दोनों लग्न किये जाते थे। यह छेद मादकी विशेषता के लिये होते थे। एक पट्टिका को बंध पर धारण कर उदर पट्टिका को बाये हाथ में पकड़कर उसका वात बतया है। पटह क वर्ण ही हुडुक्का के वर्ण बताये हैं। इसमें मकार और यकार वादन अधिक बताया है। दकार वर्ज्य बताया है। अहोबल वृत्त 'सगीत पारिभाष' में इसका वर्णन यान्त्रिक है। वर्तमान में यह लोक संगीत का वाद्य बनकर रह गया है।

(6) ददुर वा ददर :—

महवि भरत ने ददुर को अवनद्ध वाद्यो में अग वाद्य मानकर इसे पर्याप्त महत्व दिया है। भरत के पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस वाद्य की महत्ता स्वीकार नहीं की थी। यह वाद्य घट के अनुसार होता था। घट का व्यास, 16 अंगुल प्रमाण का तथा मुखका व्यास 12 अंगुल प्रमाण बताया है। घट के परत की मुटाई तथा मुख की किनार मोटी बताई है। मुख पर चमड़े की पुड़ी लगाई जाती थी जिसका विस्तार मध की अपेक्षा बड़ा होता था। चमड़े को सुनली द्वारा बने छेदों से पिकर घट से कस दिया जाता था। इसमें विक्षेपन (स्वाही) होने का प्रमाण नहीं मिलता है। चमड़ा अथ वाद्यो के उपान ही नथा, दोष रहित, चिकना, कमाया हुआ, स्वच्छ, मफेद, चमकदार बताया है। ददुर के द, य, छ, क, ह, ल, म, ट, त, य, न आदि णटालर ढसी प्रकार ददुर स्वेद्म, द्रो बहुता, मटस्त्रिय, दैंग ने ग आदि का प्रयोग भरत ने बनाया है। इन वर्णों को निकालने के लिये दोनों हाथों का प्रयोग होता था। ददुर वाद्य पर मुक्त वादन की दशा में रेवति, त्रिकल, केशवद्रे गोर्णो, हृषिण्ण तथा घण्ण वोल बताये है (33/72)। दाहिने हाथ के प्रहारो से एण्ण, मार प्रघ्नणि तथा बाये हाथ के नख के अग्रभाग के प्रहार से गोमन्त्वा वोल बने है (31/71) इनका वादन श्राव से तथा हाथों को नियंत्रित कर होता था। अधिकतर दाहिने हाथ का उपयोग मुक्त, अद्ध मुक्त या बद्ध वनिवा को निकालन के लिये तथा बाय हाथ का उपयोग बाये हाथ के सहायक के रूप में या समुक्त वण वादन के लिये किया जाता था। भरत काल के बाद इसका महत्व कम हो गया तथा बाद के सगीन आचार्यों ने घट के रूप में इसका उल्लेख किया है। 'सगीन रत्नाकर' में उल्लेखित घट चम रहित वाद्य है। वर्तमान दक्षिण भारतीय सगीत का घटम वाद्य भी चम रहित है।

(7) भूमि दु दुमी तथा दु दुमी —

वदिक साहित्य को विश्व के इतिहास में सबसे प्राचीन माना जाता है। प्राचीन साहित्य में भूमि दु दुमी एव दु दुमी का बड़ा प्रमाण में उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, यजुर्वेद, सामवेद वाजनेस ह्री संहिता उपनिषद्, ऐतरेय, रामायण महाभारत आदि में भूमि दु दुमी का उल्लेख है। भूमि दु दुमी के निर्माण के बारे में कहा गया है कि जमीन में बड़ा गडगा खोदकर उसके ऊपर गडग के आकार से बड़ा चमड़ा रख दिया जाता था। फिर उस चमड़े को ऊपर में खुटया गाडकर उनके गारा ताना जाता था। तनाव के बाद लकड़ी की डीठियोंसे पीट पीटकर उसे बजाया जाता था। इससे अधिक जानकारी भूमि दु दुमी के सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होती है। चमड़ा बड़ा होने के कारण वह किसी बड़े जानवर का होगा। भूमि दु दुमी का उपयोग लोभो को एकत्रित करने खतर का संकेत देने आदि के लिये किया जाता होगा।

दु दुमी का उल्लेख भरत कृत 'नाट्यशास्त्र' के 33 वें अध्याय के श्लोक 11 में मिलता है। उनके मतानुसार दु दुमी देवगणों का वाद्य था इसका विस्तृत वणन नाट्यशास्त्र में नहीं है।

शारंगदेव के ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में दुदुभी वाद्य को अवनद्ध वाद्यो में रखा गया है (6/12, 13 14)। इस वाद्यका विस्तृत वर्णन (6/1146 1148) शारंगदेव ने किया है। शारंगदेव के विवरणानुसार दुदुभी वाद्य एक अंगी हाकर इनका आकार बड़ा होता था (आकार निश्चित नहीं बताया है)। यह आम के लकड़ी से अधिकतर तैयार किया जाता था। यह एक मुखो वाद्य था। इसकी अन्दर से खोखला कर इसके मुख के व्यास से बड़ चमड़े को उसके किनारों पर छिद्र करके, उन छिद्रों में से बाँधिया डालकर कस दिया जाता था। बड़े आकार के कारण इसकी ध्वनि बड़ी होती थी। इसका वादन काणदार चम अथवा ढाडो से किया जाता था। इसकी ध्वनि मेघ गजना समान धुंवार स्वरूप की होती थी। इसका वादन मंगल कार्यों में, विजयपर्व परतया मन्दिरों में किया जाता था। ऐसा कहा जाता है कि मध्यकाल के उत्तर भाग में उल्लेखित नक्कारा, नगाडा घोंसा आदि वाद्य दुदुभी के ही समान वाद्य थे।

(8) झल्लरी —

भरत के नाट्यशास्त्र में (33/16) झल्लरी का उल्लेख भरत ने किया है। अंग और प्रत्यंग वाद्यो का उल्लेख करते हुए भरत ने झल्लरी इस वाद्य को प्रत्यंग वाद्य बताया है। अवनद्ध वाद्यो में अंग वाद्य के वाद्य होते थे जिनकी विधिवत स्वरों में स्थापना की जा सकती थी। प्रत्यंग वाद्य इसके विपरीत होकर इनमें विशेष (स्वरयुक्त) गजन नहीं रहता था स्वर स्थापना नहीं होती थी, विधिवत प्रहारों की व्यवस्था नहीं थी और ना ही अक्षर उत्पन्न होते थे। प्रत्यंग वाद्यो के वादन में माजनाक्षो की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। नाट्यशास्त्र में इसके अतिरिक्त वर्णन प्राप्त नहीं है।

शारंगदेव द्वारा संगीत रत्नाकर में झल्लरी को अवनद्ध वाद्यो के अंतर्गत माना है (6/12 18)। रत्नाकर में जो झल्लरी का वर्णन मिलता है वह वर्तमान के चंग या खजरी वाद्य के समान है। इसके वर्णन एवं आकार सम्बन्धी वर्णन (6/1137 1139) संगीत रत्नाकर के बाद्याध्याय में मिलता है। इस वाद्य का वर्णन शारंगदेव ने 26 पंक्तियों (अर्थात् वर्तमान 15 पंक्तियों) बताया है। यह लकड़ी की बनाई जाती थी। इसकी लम्बाई 13 अंगुल होती थी तथा इसके मुख का व्यास 18 अंगुल होता था। इसका एक ही मुख होता था। इसके अंग में (गले में) दो छिद्र होते थे जिसमें से दोरी बाँधी जाती थी। इसका मुख चमड़े से बड़ा (मटा) होता था। उसको बाँधे हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से उसका वादन करते थे। इनका वर्णन 'संगीत रत्नाकर' में बताया है। इसके स्वर स्थापना एवं वादन विधि का उल्लेख करने से यह अवनद्ध वाद्य शास्त्रीय संगीत का अनुपयोगी रहा होगा ऐसा कहा जा सकता है।

संगीतसार, संगीत पारिजात, संगीतोपनिषद्साराङ्गार, इन ग्रन्थों में भी झल्लरी का उल्लेख मिलता है।

(लकड़ी का नाम जहाँ न दिया हो वहाँ पर या रक्त घटन की समझना चाहिये) (6/1157 1158)

(9) पटह —

पटह यह अवनट वाद्य है। प्राचीन काल से इस वाद्य का उल्लेख मिलता है। पाणिनी रामायण, पौराणिक ग्रंथों, महाभारत/उषी प्रकार मानसोलास भरतमय, नाट्यशास्त्र, सगीत रत्नाकर आदि सगीत ग्रंथों में इसका उल्लेख है।

महर्षि भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में पटह वाद्य का अवनट वाद्यों में प्रत्यय वाद्य के रूप में उल्लेख किया है (33/27)। यह आकार, स्वर स्थापना के लिए अनुपयोगी तथा गभीर इन्द्रियुक्त होने से इसका विस्तृत बणन नहीं किया है।

'सगीत-पारिजात' ग्रंथ में पटह को ढोलक सदृश उल्लेखित करते हुए (18 वीं सती) अहोबल ने लिखा है "पटह ढोलक इति भाषायाम", किंतु सगीत रत्नाकर ग्रंथ में (13 वीं सदी) पटह को मदन तथा मदन के समान मायता दी है तथा उसका विस्तृत बणन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि भरत काल (प्राचीनकाल) तीसरी सती से धीरे धीरे पटह सगीत में अपना स्थान प्राप्त कर शारंगदेव के काल में (13 वीं सदी) यह सगीत के प्रमुख अवनट वाद्य के रूप में मखरकर सामने आया। 13 वीं सदी के बाद, उसी तरह धीरे धीरे इस वाद्य का सगीत क क्षेत्र में महत्व कम होना चला गया।

शारंगदेव ने अपने ग्रंथ सगीत रत्नाकर में पटह का विस्तृत विवेचन किया है। शारंगदेव ने इसे मार्गी एवं देशी दोनों प्रकार के सगीत में उपयोगिता की दृष्टि से मार्गी पटह एवं देशी पटह के रूप में प्रस्तुत किया है। मार्गी तथा देशी पटह दोनों की रचना, वादन आदिका अलग अलग बणन किया है। शारंगदेव के अनुसार पटह अवनट वाद्य था (6/12 14)। माग तथा देशी सबंध के कारण पटह भी दो प्रकार के बताये हैं। (6/805)

(अ) मार्गीपटह — (र 6/806 817)

मार्गी पटह की लम्बाई $2\frac{1}{2}$ हाथ होती थी। यह लकड़ी का बना होकर मध्य भाग में खोखला होता था। इसके छोड़ की गुलाई (परिधी) 60 अंगुल की होती थी। इसके दो मुख होते थे। मुखों की अपेक्षा अंग (छोड़) बीच में से उठा हुआ (60 अंगुल से ज्यादा परिधी का) होता था। दायां मुख $11\frac{1}{2}$ अंगुल तथा बायां मुख $10\frac{1}{2}$ अंगुल व्यास का होता था। दाहिने मुख पर लोह का बड़ा व बाये मुख पर बेली (बारीकवाणी) से बना गोल बड़ा (गजरा) बिठाते थे।

दाये मुख पर 6 माह के मरे बछड़े की छाल तथा बाये मुख पर मत पशु की मोटी छाल को तैयार कर बमडा बनाने में उपयोग किया जाता था। बाये मुख तथा दाये मुख के बंधों में 7 छेद करके दोनों मुखों को डोरी (वादी) द्वारा बना जाता था। इन डोरियों में 7 धातु व 4 अंगुल प्रमाण के धातु व 7 छल्ले टाल जत

(13) करटा —

'संगीत रत्नाकर' में (6/1078 1085) करटा इस वाद्य का उल्लेख पारंगदेव ने किया है। "संगीत समयसार", "संगीत मकरन्द" आदि ग्रंथों में इस वाद्य का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मध्यकाल का वाद्य रहा होगा। अलग अलग पुस्तकों में प्राप्त वर्णन से यह पता होता है कि यहाँ इसका आकार प्रकार अलग अलग बताया है।

संगीत रत्नाकर में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके अनुधार करटा वाद्य का अंग (खोड) विजसार (बीज) के लकड़ी का बना होता था। इसकी लम्बाई 21 अंगुल होती थी। दो मुख होते थे। मुँहा का व्यास 12 अंगुल अथवा 14 अंगुल था। इसके अंग की परिधी 40 अंगुल बताई है। दोनों मुखों पर दो कडे होते थे जिनके डोरियों से अथवा चमड़ी से गुंथे होते थे। उनका घेर 42 अंगुल का होता था। इन कड़ों (गत्रदे) में मुँहा के चमड़े को बद्ध कर दिया जाता था। कदम 14 छेद होते थे। दोनों मुखों के कड़ों में बने छेदों में से 1—1 छिद्र छोड़त हुए त्रयग बद्धी धानकर दोनों मुखों (पुडियो) को आग में कस दिया जाता था। इस प्रकार की बद्धी की कसाई मछली के आकार सरीषी दिखती थी तथा इस कारण कसाव भी ठीक रहता था। दोनों कड़ों के पास चमड़ी की पट्टियाँ बांध दी जाती थीं। यज्ञोपवीत समय इन पट्टियों में डोरी बाँधकर गले में टागा जा सकता था अथवा कमर में बाँधा जा सकता था। इसका वादन दो कुडुप्पो से (लकड़ी के कोणों से) होता था। इसका पाठ पारंगदेव ने करट, तिरिक्कि, तिरिक्किरि, बताया है।

(14) घट —

घट का उल्लेख प्राचीन काल से मिलता है। इस वाद्य की विस्तृत विवेचन मध्यकालीन ग्रंथों में ही मिलता है। प्राचीन काल में पाणिनी ने अष्टाध्यायी में (ईसा पूर्व 7 वीं शताब्दी) तथा भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में जिस दूर वाद्य का उल्लेख किया है, वह दूर, वाद्य घट वाद्य के समान ही था। चमड़ी से मड़े ज्ञाने वाले घट वाद्य का विकास त्रिमुखी एवं पंचमुखी घटों के रूप में हुआ, ऐसा भी उल्लेख है। प्राचीन एवं मध्यकालीन शिल्प चित्रों में इस प्रकार के वाद्यों का संकेत मिलता है। तामिलनाडु में पंचमुखी वाद्य का स्वरूप देखन की मिलता है। विकास के साथ साथ यह घट बिना चमड़े से मड़ा भी, वादन प्रयोग में आने लगा। वर्तमान में दक्षिण भारत में घटम के रूप में यह प्रयोग में आता है। 'संगीतसार' ग्रंथ में माटो के बने लुके मूल के एवं घास से बने चमड़े से मड़े घटों का उल्लेख है। भारतीय आदिवासी लोगों में प्रयुक्त किये जाने वाले, मिलावू (केरल), पावूजी के माटे (राजस्थान) घुमट (गोवा), कुडमुल (तामिलनाडु) आदि वाद्य इसी श्रेणी के वाद्य हैं।

'सगीत रत्नाकर' में (6/1086, 1087) घट बाद्य का उल्लेख धारण ने किया। घट बड़े सदर (वेग) और छोटे मुख का होता था। इसके मुख के व्यास का उल्लेख नहीं किया है। घट का अग विकनी माटी का बनाकर उसे अच्छी तरह से पकाया जाता था। यह मजबूत होता था जिससे आघानी से टूटता नहीं था। इसके मुख पर चमड़ा कसकर बाध दिया जाता था। इसका वादन दोनों हाथों में किया जाता था। मदल के पाटवर्ण ही इसमें पाटवर्ण थे।

(15) ढवस —

धारणदेव के ग्रंथ "सगीत रत्नाकर" में (6/1091-1094) ढवस बाद्य का इस प्रकार उल्लेख है —

यह इसके अग के लकड़ी का उल्लेख न होने से यह रक्तचदन या खेर की लकड़ी का समझना चाहिये (6/1157 1158) इसकी लम्बाई 1 हाथ की होती थी। लकड़ी को अंदर से छोखला किया जाता था। बाद्य के छोड़ की परिधी (गलाई) 40 अंगुल प्रमाण की थी। दोनों मुखों का व्यास 12 अंगुल प्रमाण का होता था। दोनों मुखों पर बारीक बड़ी से बने कड़े (गजरे) होने पर त्रिनमे मुख के ऊपर मढ़ा जाने वाला चमड़ा बद्ध किया जाता था। कड़े (गजरे) 7 छिद्र होते थे। चम युक्त (बद्ध) कड़ों को (पुड़ी को) दोनों मुखों पर बँठाकर छिटो म से डोरी डालकर दोनों मुख कस दिये जाते थे। बाद्य में एक डोरी तथा पट्टी बाध दी जाती थी जिससे बाद्य को कंधे पर या गल में लटकाया जा सके। बाये मुख पर बाये हाथ तथा दाये मुख पर कूड़प से (लकड़ी के कोण) धारण किया जाता था। इसमें ढँकार मुक्त पाटवर्ण बताया है।

(16) ढक्का —

धारणदेव के ग्रंथ 'सगीत रत्नाकर' में (6/1095 96) ढक्का बाद्य का इस प्रकार उल्लेख है —

ढक्का लगभग ढवस के समान ही था। इसमें अंतर केवल यह था कि ढक्का के मुखों का व्यास 13 अंगुल प्रमाण का था।

(17) कुडक्का —

इसका उल्लेख "सगीत रत्नाकर", सगीतसुधा बाद्य प्रकाश आवि ग्रंथों में उपलब्ध है। धारणदेव के ग्रंथ "सगीत रत्नाकर" के (6/1097) अनुसार अंगुल विहीन कुडक्का ही कुडक्का थी। इसका वादन हाथ से एक कोण से बताया है।

(18) कुडुवा —

इस बाद्य का उल्लेख 'मानसोल्लास 'सगीत रत्नाकर', 'सगीतसुधा', सगीतसार आदि ग्रंथों में मिलता है।

"सगीत रत्नाकर" के अनुसार इसका वर्णन इस प्रकार है :—(6/1098 1102) यह बाद्य विज्रसार (महालसुग) के वक्ष के लकड़ी से बनाया जाता था। यह बीच में छोखला होता था। इसकी लम्बाई 21 अंगुल प्रमाण की थी। दो मुखों के अग के व्यास 7 अंगुल प्रमाण का था। इसका आकार एक से मूटई का

(13) करटा —

‘संगीत रत्नाकर’ में (6/1078 1085) करटा इस वाद्य का उल्लेख शारंगदेव ने किया है। “संगीत सम्यहार”, ‘संगीत मकरद’ आदि ग्रंथों में इस वाद्य का उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह मध्यकाल का वाद्य रहा होगा। अलग अलग पुस्तकों में प्राप्त वर्णन से यह पता होता है कि उन्होंने इसका आकार प्रचार अलग अलग बताया है।

संगीत रत्नाकर में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है। उसके अनुसार करटा वाद्य का अंग (खोड) बिजहार (बीज) क लकड़ी का बना होता था। इसकी लम्बाई 21 अंगुल होती थी। दो मुँह होते थे। मखो का व्यास 12 अंगुल अथवा 14 अंगुल था। इसके अंग की परिधी 40 अंगुल बताई है। दानों मुँहों पर दो कड़े होते थे, ये कड़े डोरियों से अथवा चमड़ी से गूँदे होते थे। उनका दूर 42 अंगुल का होता था। इन कड़ों (गडर) में मुँहों के चमड़े को बद्ध कर दिया जाता था। कड़ों में 14 छेद होते थे। दोनों मुँहों के कड़ों में बने छेदों में से 1—1 छिद्र छोड़त हुए अंगुल बढ़ी डालकर दोनों मखों (पुट्टियों) को आनस में बस दिया जाता था। इस प्रकार की बद्धों को बसाई मछली के आकार सरीखी लिपती थी तथा इस कारण कसाव भी ठीक रहता था। दानों कड़ों के पास चमड़ी की पट्टियाँ बांध दी जाती थीं। यज्ञोपवीत समय इन पट्टियों में डोरी बांधकर श्ले में टांगा जा सकता था अथवा कमर में बांधा जा सकता था। इसका वादन दो कुडुप्पो से (लकड़ी के कोणों से) होता था। इसके पाट शारंगदेव ने करट तिरिदि, तिरि किरि, बनाये हैं।

(14) घट —

घट का उल्लेख प्राचीन काल से मिलता है। इस वाद्य की विस्तृत विवेचन मध्यकालीन ग्रंथों में ही मिलता है। प्राचीन काल में पाणिनी ने अष्टाध्यायी में (ईसा पून 7 वीं सदी) तथा भरत ने अपने ग्रंथ नाट्यशास्त्र में जिस ददर वाद्य का उल्लेख किया है, वह ददर, वाद्य घट वाद्य के समान ही था। चमड़ी से मढ़े जाने वाले घट वाद्य का विकास त्रिमुखी एवं पंचमुखी घटों के रूप में हुआ, एसा भी उल्लेख है। प्राचीन एवं मध्यकालीन शिल्प चित्रों में इस प्रकार के वाद्यों का संकेत मिलता है। तामिलनाडु में पंचमुखी वाद्य का स्वरूप दखन को मिलता है। विशाख के साथ साथ यह घट बिना चमड़े से मढ़ा भी, वादन प्रयोग में आन लगा। वर्तमान में द भारत में घटम के रूप में यह प्रयोग में आता है। ‘संगीतसार’ ग्रंथ में माटी के बने लुंके मूँह के एवं घातु से बने चमड़े से मढ़े घटों का उल्लेख है। भारतीय आदिवासी लोगों में प्रयुक्त किये जाने वाले, मिलाबु (केरल), पाबूजी के माट (राजस्थान) घुमट (गोवा), कुडुपुल (तामिलनाडु) आदि वाद्य इसी श्रेणी के वाद्य हैं।

(24) सेल्लुका —

“सगीत रत्नाकर” के अनुसार (6/1132 1136) सेल्लुका वाद्य का वर्णन इस प्रकार है —

यह (वाद्य) विजतार के सक्की में बनाई जाती थी। इसका खोड एक से गलाई का होना था। खाड बीच में से खोजला होता था। वाद्य की लम्बाई 26 अंगुल प्रमाण होनी थी तथा बाद्य की परिधी 30 अंगुल प्रमाण होनी थी। गारण देव ने मुखों का व्यास 10 अंगुल प्रमाण बत या है (कि तु कुछ आचाय इसे 11 अंगुल प्रमाण मानते थे)। मुख की अपेक्षा 1 अंगुल प्रमाण से बड़ी उद्दी (चमड़ी) होनी थी। मूर्तों पर चमड़ी के तंत से बने मुखों के आकार के 1 अंगुल मोटे 2 कड जिसे उद्दी (चमड़ा) बंधी हो लगाये जाते थे। इन कडों (गडों) में 6 6 छिद्र होते थे। इन छिद्रों में से सूत की डोरी को डालकर दोनों मुखों को अंग पर बस दिया जाता था। ये कडे मुख की अपेक्षा 1 अंगुल प्रमाण में उठ हुए रहते थे। दायें मुख पर हाथ में कुडुब (बककाकर छड़ी) धारण कर उससे तथा बायें मुख का बायें हाथ से वादन किया जाता था। इस वाद्य के पाठ दक्षिण मुख पर विकार तथा वाम पक्ष पर अकार बताये हैं।

(25) घाणः—

“सगीत रत्नाकर” के (6/1140) अनुसार :—

यह वाद्य शल्लरी के वजन के आधे वजन का अर्थात् 12 $\frac{1}{2}$ पल (लगभग 750 ग्राम) होता था। इसके खोड की परिधि (धैरा) 12 अंगुल प्रमाण होना था। बाकी सारे लक्षण शल्लरी समान होते थे।

(26) त्रिवली —

इस वाद्य का उल्लेख मानमोन्लास, सगीत रत्नाकर, सगीत सुधा, सगीत गार, वाद्य प्रकाश आदि ग्रंथों में मिलता है। सगीत रत्नाकर के (6/1141 1143) अनुसार —

इस वाद्य की लम्बाई एक हाथ की होती थी। यह सक्की से बनी तथा बीच में से खोजनी होती थी। दोनों मुखों का व्यास 7 अंगुल प्रमाण का होता था। खोड या अंग इतना ही मोटा होता था कि वह हाथ में (पजे में) आसानी से पकड़ में आवे। दोनों मुखों पर नरम तथा पतली चमड़ी, लोहे के (मुख के आकार के) कडों में बंधी होती थी। इस चमड़ी में बाहर के बाज में 7 छिद्र होते थे। चमड़ी युक्त दोनों मुखों के कडे, छिद्रों में डोरी डालकर आवस में बांध दिये जाते थे, और मखा पर बस दिये जाते थे। वादियों या डोरियों को मध्य के पतले भाग में ऊपर से सूत की डोरी से लपेट दिया जाता था। बीच की डोरियों में एक डोरी इतनी बड़ी (एक हाथ) होती थी कि इससे वाद्यकी आसानी से कंधे पर लटकाया जा सके। कंधे में बककाकर इसका वादन किया जाता था। इसमें त दा, दो द ये धी बजते थे। इसका वादन दोनों हाथों से किया जाता था।

लकड़ी में 8 (दाये मुख पर 4 बाये मुख पर 4) कीले गाड़ी जाती थी। प्रत्येक मुख पर दो काठे उध्वमुखी तथा दो कीले अधोमुखी होती थी। इन कीलों मुख पर 2 2 तति बांधी जाती थी। इन तातों द्वारा मुख पर मड चमड़े से ध्वनि उत्पन्न करने के लिये तातों में छोटी काष्ठियाँ बाँध दी जाती थी। इसके दोष सक्षण हूडवका समान समक्षिय। इसका वादन हाथ स तथा कुडूप (घाला की) स इसका वादन किया जाता था। इसके दोनों मुखों पर चमड़ा मढ़ा रहता था। धारगदव के अनुसार इसके वादन में हाथ के प्रहार से डकार और कुडूप के आघात से घट, दधि पाटवण बताये गये हैं। यह भी बताया है कि कुछ आचाय न ग, क, घ, र, ट के पाटवण बताते हैं। एक बिलात लम्बी डवका उत्तम उससे एक अगुल छोटी होने पर मध्यम तथा दो अगुल छोटी होने पर कनिष्ठ डवका मानी जाती थी।

(22) मडिडवका :—

धारगदव के प्रथम 'संगीत रत्नाकार' के अनुसार (6/1120 1125) डवका यही मडिडवका होती थी। इसमें अथवा यह था कि मडिडवका की लम्बाई 11 अगुल प्रमाण की थी। दोनों मुखों का व्यास अथवा से (सकड़ा की मुट्ठी छोड़कर) आठ अगुल प्रमाण का होता था। मध्यभाग की परिधी 16 अगुल प्रमाण की होती थी। इसमें अगुल नहीं होती थी। उसी प्रकार बीच की पट्टियाँ नहीं होती थी। उत्कृष्टक (ऐसी डोरी जिसके टोंक ऊपर निकले हों) तथा डोरिया बीच में होती थी। उत्कृष्टक के दोनों डोरियों को बायाँ अगुल और अगुलियों से पकड़कर, कवा आखरी भाग तजनी से दबाकर मडिडवका की जग या घुटने पर रखा जाता था। इसके बाद बाये हाथ से इसका वादन किया जाता था। कुछ आचाय (शास्त्र देव के अनुसार) इसका वादन कुडूप से बताते हैं।

(23) डवकूली —

संगीत रत्नाकर प्रथम (6/1126 11 31) अनुसार :—

डवकूली काशा (घातु) बल के सींग, अथवा हाथी दाँत से बनाई जाती थी लम्बाई 5 अगुल प्रमाण तथा दोनों मुखों का व्यास 5 अगुल प्रमाण का होता था। इसके मुख पर भेड़ का चमड़ा मुखों पर कड़ों द्वारा लगाया जाता था। यह अग के अनावट के अनुसार (काशा सींग या हाथी दाँत के) काशे, ताँबे, या लकड़े के लगाये जाते थे। बड़ कड़ों में 5 5 छल होने थे। इन कड़ों को छोटे में से छोटे पिरोकर अग के मुखों पर कस दिया जाता था। मध्यका भाग बीच में से की डोरी द्वारा इस प्रकार बंधा रहता था कि यह न जादा ढीला हो न जागा हो। डोरी पर अनामिका रखकर मध्यमा तथा तजनी बड पर रखे, अगुल ऊँची तरफ रह तथा दूसरे चमपर ही इस प्रकार हाथों की ठोका करी बजा सूत की डोरी जिसके टोंक पर मोम लगा हो उससे दुम दुम, आवाज कराने। इसका वादन होता था। कुछ आचाय इसी ध्वनि की तु तु कहते थे। मध्यम निकलने वाले पाटवण ही डवकूली के पाटवण माने जाते थे।

